जैन तत्त्व विद्या

(खण्ड - १)

गणाधिपति तुलसी

संपादिका

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनूं

प्रकाशक :
आदर्श साहित्य विभाग
जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं–341306
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (01581) 226080, 224671
ई–मेल : books@jvbharati.org

Books are available online at
https://books.jvbharati.org

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

द्वितीय संस्करण : अक्टूबर 2021 (1000 प्रतियां)

मूल्य : पचास रुपये मात्र

मुद्रक : पायोराईट प्रिन्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर

JAIN TATAV VIDHYA (KAND-1) - By Ganadhipati Tulsi ₹ 50/-

१. राशि के दो प्रकार हैं

१. जीव राशि **२. अजीव राशि**

कालूतत्त्वशतक के चार वर्ग है। प्रत्येक वर्ग में पच्चीस-पच्चीस बोलों का संकलन है। २५ × ४ = १००। इन चारों वर्गों में कुल मिलाकर सौ बोल है। अन्तिम वर्ग में एक बोल अधिक है। इस दृष्टि से १०१ बोल हो गए हैं। प्रत्येक बोल का स्वतन्त्र अस्तित्व भी है और वे परस्पर संबंधित भी हैं। प्रथम बोल के अनुसार राशि के दो प्रकार हैं–जीव राशि और अजीव राशि। राशि का अर्थ है वर्ग। संसार के सारे पदार्थ-जीव और अजीव, इन दो वर्गों में विभक्त हैं। इन दो वर्गों के अतिरिक्त किसी तीसरे वर्ग की कल्पना भी नहीं हो सकती।

जीव एक तत्त्व है। वह अपने गुण और पर्यायों से सम्पन्न है। उसका अस्तित्व त्रैकालिक है। त्रैकालिक का अभिप्राय है–वह अतीत काल में था, भविष्य में रहेगा और वर्तमान में है। इसी प्रकार अजीव तत्त्व अपने गुण और पर्यायों से सम्पन्न है। जीव की भांति यह भी तीनों कालों से जुड़ा हुआ है। विश्व के पदार्थों का यह एकदम संक्षिप्त वर्गीकरण है। इससे छोटा और कोई वर्ग नहीं हो सकता।

जैन दर्शन में दो प्रकार की दृष्टियां हैं–संक्षेप दृष्टि और विस्तार दृष्टि। दूसरे शब्दों में इन्हें संक्षेपनय और विस्तारनय भी कहा जाता है। उक्त विवेचन संक्षेप दृष्टि या संक्षेपनय के आधार पर किया गया है। जीव और अजीव–ये दोनों नौ तत्त्वों में दो तत्त्व हैं। दोनों तत्त्व अनंत शक्ति से सम्पन्न हैं। जीव तत्त्व की शक्ति चेतना शक्ति है। चेतना जीव का मुख्य लक्षण है। अजीव तत्त्व चेतना और अनुभूति से शून्य जड़ तत्व है। पर विश्व की संरचना में जीव की भांति अजीव का भी पूरा उपयोग है।

२. जीव के वो प्रकार हैं

१. सिद्ध   २. संसारी

संसार में जितने पदार्थ हैं, वे जीव और अजीव इन दो तत्त्वों में समा जाते हैं। यह वर्गीकरण संग्रहनय की दृष्टि से है। इसमें एक दृष्टि से सारा संसार बंध गया। पर यह दृष्टिकोण व्यावहारिक क्रम है। किसी भी तत्त्व को व्यावहारिक बनाए बिना वह जन-भोग्य नहीं बन पाता। इसलिए उक्त वर्गीकरण को व्यवहार नय की दृष्टि से समझना भी जरूरी है। इस क्रम में हम सबसे पहले जीव तत्व को लेते हैं।

जीव के दो प्रकार हैं—सिद्ध और संसारी। एक परमात्मा है और दूसरा आत्मा। एक पूर्ण विकसित है, दूसरा अल्प विकसित। एक निरावरण है, दूसरा सावरण। एक मुक्त है, दूसरा बद्ध। एक विदेह है, दूसरा सदेह। एक अकर्म है, दूसरा सकर्म। एक अक्रिय है, दूसरा सक्रिय। एक जन्म और मरण की परम्परा से अतीत है, दूसरा इस परम्परा का वाहक है। ये दोनों ही चेतनासंवलित है, किन्तु इनके स्वरूप में बहुत बड़ा अन्तर है।

सिद्धावस्था आत्मा की शुद्धावस्था है। वहां केवल जीव का ही अस्तित्व है। अनादि काल से आत्मा के साथ चिपके हुए कर्म पुद्गल उस स्थिति में टूटकर अलग हो जाते हैं। वहां केवल आत्मा की ज्ञान-दर्शनमयी सत्ता का अस्तित्व है। उस अस्तित्व की पहचान परमात्मा, मुक्तात्मा, सिद्ध, परमेश्वर, ईश्वर आदि अनेक नामों से की जा सकती है।

संसारी आत्मा वह है, जो संसरण करती है—बार-बार जन्म और मरण करती है। संसारी आत्मा का पूर्वजन्म है और पुनर्जन्म होता रहता है। एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर पांच इन्द्रिय वाले जीवों तक और अनिन्द्रिय (केवलज्ञानी) जीव भी इस वर्ग में समाविष्ट हो जाते हैं। इस वर्ग के जीव अनादिकाल से संसारी है और तब तक संसारी ही रहेंगे, जब तक समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्त नहीं बन जाएंगे। संसारी जीवों के अनेक वर्ग बन सकते हैं, जिनकी चर्चा हम आगे करेगें।

३. संसारी जीव के दो-दो प्रकार हैं

१. व्यवहारराशि	२. अव्यवहारराशि
१. भव्य	२. अभव्य
१. जस	२. स्थावर
१. सुक्ष्म	२. बादर
१. पर्याप्त	२. अपर्याप्त

संसारी जीव दो-दो वर्गों में विभक्त होकर कई प्रकार के जाते हैं। उनमें एक वर्ग है व्यवहारराशि और अव्यवहार राशि का। व्यवहार का अर्थ है—भेद-विभाग। जो जीव अनेक भेदों मे विभक्त हैं, वे व्यवहार राशि के जीव हैं। जैसे—एक इन्द्रिय वाले जीव, दो इन्द्रिय वाले जीव, तीन इन्द्रिय वाले जीव, चार इन्द्रिय वाले जीव, पांच इन्द्रिय वाले जीव और अनिन्द्रिय-केवलज्ञान प्राप्त करने वाले जीव।

व्यवहार शब्द का दूसरा अर्थ है-उपयोग। जो जीव हमारे व्यवहार-उपयोग में आते हैं, वे व्यवहार राशि के जीव हैं, जैसे—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि के जीव।

व्यवहार राशि के जीवों का यह वर्ग बहुत बड़ा है। इस वर्ग के जीव अपने संचित कर्म और पुरुषार्थ के अनुसार भिन्न-भिन्न गतियों में उत्पन्न होते रहते हैं, संक्रांत होते रहते हैं। आज जो जीव मनुष्य हैं, वे कभी पशु, पक्षी कीड़े आदि बन जाते हैं और जो कीड़े-मकोड़े हैं, वे कभी मनुष्य बन जाते हैं।

इन जीवों में एक वनस्पति को छोडकर शेष सब जीव प्रत्येक शरीरी-एक शरीर में एक जीव वाले होते हैं। वनस्पति साधारण-शरीरी भी होती है। साधारण-शरीरी का अर्थ है—एक शरीर मे अनन्त जीवों का आवास। ये सब प्रकार के जीव व्यवहार राशि के जीव हैं। जो जीव मुक्त होते हैं, वे अनादिकाल से चले आ रहे आत्मा और कर्मों के सम्बन्ध को विशेष साधना के द्वारा तोड़कर मोक्ष पहुंचते हैं। वे जीव भी इस व्यवहार राशि में ही होते हैं। व्यवहारराशि के जीव संख्या में अनन्त हैं, पर वे अव्यवहारराशिगत जीवों के अनंतवें भाग में भी नहीं आते हैं।

अव्यवहार राशि जीवों का अक्षय कोष है। ये वे जीव हैं, जिनमे किसी प्रकार का व्यवहार-विभाग नहीं होता। इन जीवों का हमारे लिए कोई उपयोग भी नहीं है। इस जीव-वर्ग मे केवल वनस्पति के जीव हैं। वे भी साधारण वनस्पति के। साधारण वनस्पति अर्थात् एक शरीर में अनन्त जीव। इसे निगोद भी कहते हैं। निगोद के जीव दो प्रकार के होते हैं—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल निगोद में पांच प्रकार की काई, कन्दमूल आदि दृश्य शरीर वाले जीव होते हैं। निगोद के सूक्ष्म जीव अव्यवहार राशि के जीव हैं। ये सारे लोक में व्याप्त हैं। ये ऐसे जीव हैं, जो अनादिकाल से जीवों के इसी वर्ग में उत्पन्न होते है और मरते हैं। इन जीवों को जब तक इस वर्ग से बाहर निकलने का अवसर नहीं मिलता, ये अव्यवहार राशि के जीव कहलाते हैं।

अव्यवहारराशि के सब जीव समान हैं। इनकी अवगाहना, स्थिति, आहार, उच्छ्वास-नि:श्वास आदि में कोई अन्तर नहीं है। इन जीवों के जन्म और मृत्यु भी साथ-साथ घटित होते हैं। ऐसा साम्य जीवों के किसी भी वर्ग में नहीं मिल सकता। इन जीवों का आयुष्य बहुत सूक्ष्म है। विज्ञान की तो वहां तक पहुंच ही नहीं है । एक श्वासोच्छ्वास अर्थात् नाड़ी का एक स्पंदन जितने समय में होता है, उतने छोटे-से काल में ये जीव सतरह बार जन्म लेकर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। संख्या में ये जीव इतने अनन्त हैं कि इनका कभी अन्त हो ही नहीं सकता।

इस वर्ग के कुछ जीव काललब्धि के योग से व्यवहारराशि में संक्रांत होते हैं। व्यवहारराशि के जीव पुनः अव्यवहारराशि में नहीं जाते। इसका अर्थ यह है कि अव्यवहारराशि से जीवों का निर्यात तो होता है, पर आयात नहीं होता। व्यवहारराशि से जितने जीव मुक्त होते हैं, उनकी क्षतिपूर्ति अव्यवहारराशि से होती रहती है। अव्यवहारराशि के इन जीवों की कभी समाप्त नहीं होने वाली राशि और अनादिकाल से इनकी एक ही वर्ग में उत्पत्ति की बात किसी तर्क से प्रमाणित भले ही न हो, पर यह एक ऐसा सच है, जिसे नकारा नहीं जा सकता। यह एक अहेतुगम्य सिद्धांत है। इसी के आधार पर यह कहा जाता है कि संसार कभी जीव-शून्य नहीं होगा। इसलिए अव्यवहारराशि के इस विचित्र जीव-जगत् के संबंध में किसी प्रकार के संदेह को अवकाश नहीं है।

भव्य-अभव्य

संसारी जीवों के दो-दो वर्गों में दूसरा वर्ग भव्य और अभव्य का है। भव्य का अर्थ है—योग्य और अभव्य का अर्थ है—अयोग्य। सामान्यत: हर व्यक्ति किसी-

न-किसी बात में योग्य होता ही है, पर यहां योग्यता और अयोग्यता किसी शिल्प या विद्या की नहीं है। क्योंकि इस क्षत्र मे योग्य व्यक्ति भी अभव्य हो सकते हैं। यहां भव्यता और अभव्यता का अर्थ मोक्ष-गमन की योग्यता और अयोग्यता से है।

प्रश्न हो सकता है कि मोक्ष जाने की योग्यता सबमें नहीं होती है क्या? नहीं होती है तो क्यों? एक ही पर्यावरण में जीने वाला एक व्यक्ति मोक्ष-गमन की योग्यता रखता है और दूसरा नहीं। इसका क्या हेतु है?

यह एक निर्हेतुक तथ्य है। इसका कोई कारण नहीं है। चेतना का गुण प्राणी मात्र में होता है, पर उसका सम्पूर्ण विकास कोई-कोई ही कर पाता है। जो प्राणी ऐसा करने की क्षमता रखते हैं, वे भव्य हैं और जिनमें ऐसी क्षमता नहीं होती है, वे अभव्य है।

ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर है – अनादि पारिणामिक भाव। जो जीव था, वह आज भी जीव है और भविष्य में भी जीव ही रहेगा। यह जीव का अनादि परिणमन है। जो अजीव था, वह अजीव है और अजीव ही रहेगा। यह अजीव का अनादि परिणमन है। इसी प्रकार जो भव्य था, वह भव्य ही रहेगा और अभव्य था, वह अभव्य ही रहेगा। किसी भी प्रयत्न या पुरुषार्थ से अभव्य को भव्य नहीं बनाया जा सकता।

अभव्य जीव कभी भव्य नहीं बन सकता और भव्य जीव मोक्ष जाते रहते हैं। इस स्थिति में एक समय ऐसा भी आ सकता है, जब सब भव्य मोक्ष चले जाएं और संसारी जीवों का वर्ग भव्य-शून्य हो जाए। ऐसा हुआ तो मोक्ष का द्वार बंद हो जायेगा। मोक्ष के अभाव में धर्माराधना का क्या अर्थ होगा? इस प्रश्न के संदर्भ में सामान्यत: इतना ही जान लेना काफी है कि यहां से जितने जीव मुक्त होंगे, वे सभी भव्य ही होंगे। पर संसार में जितने भव्य हैं, वे सभी मुक्त हो जाएंगे, यह संभव नही है। क्योकि जिन भव्य जीवों को वैसी सामग्री उपलब्ध नहीं होगी, वे अपनी योग्यता का उपयोग नहीं कर पाएंगे।

पत्थर में प्रतिमा बनने की योग्यता होती है, पर सब पत्थर प्रतिमा का आकार नहीं ले पाते। जिन पाषाण-खण्डों को षिल्पी का योग नहीं मिलेगा, वे योग्य होने पर भी प्रतिमा नहीं बन पाएंगे। इसी प्रकार जिन भव्य जीवों को उपयुक्त वातावरण नहीं मिलेगा, वे कभी मुक्त नहीं हो पाएंगे। फलत: जीव-वर्ग कभी भी भव्य जीवों से शून्य नहीं होगा।

त्रस-स्थावर

त्रस का अर्थ है जंगम जीव। जो चलता है, वह जंगम कहलाता है। चलने-फिरने वाला तो पुद्‌गल भी हो सकता है, पर वह त्रस नहीं होता। कोई-कोई स्थावर जीव भी गतिषील हो सकता है। इसलिए जो चलता-फिरता है, वह त्रस है, यह परिभाषा पर्याप्त नहीं हैं। जो जीव सुख पाने के लिए और दुःख से निवृत्त होने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान में गमनागमन कर सकते हैं, वे त्रस हैं। जिन जीवों मे सलक्ष्य गमनागमन की क्षमता नहीं होती, वे स्थावर कहलाते हैं। वास्तव में तो त्रस नाम कर्म की प्रकृति के उदय के कारण जीव त्रस कहलाते हैं और स्थावर नाम कर्म की प्रकृति के उदय के कारण जीव स्थावर कहलाते हैं। दो, तीन, चार और पांच इन्द्रिय वाले सभी जीव त्रस हैं। एक इन्द्रिय वाले जीव-पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव स्थावर हैं। त्रस और स्थावर-इस वर्ग में संसार के समस्त प्राणियों का समावेश हो जाता है।

सूक्ष्म-बादर

इसके बाद सूक्ष्म और बादर जीवों का एक वर्ग है। बादर का अर्थ है स्थूल। इसमें एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर पांच इन्द्रिय वाले जीवों तक सभी जीव आ जाते हैं। एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म और बादर दोनों प्रकार के होते हैं। पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि जो जीव दृष्य हैं, वे बादर हैं और जो आंखों के विषय नहीं हैं, वे सूक्ष्म हैं। ऐसे सूक्ष्म जीव समूचे लोक मे व्याप्त हैं। आगम की भाषा में – 'सुहुमा सव्वलोयम्मि लोयदेसम्मि बायरा' सूक्ष्म जीव समग्र लोक में रहते हैं और बादर जीव लोक के एक भाग में रहते हैं।

त्रस-स्थावर या सूक्ष्म-बादर जीवों को जिस रूप में परिभाषित किया गया है, वह उनकी व्यावहारिक परिभाषा है। वास्तविक परिभाषा नाम-कर्म के योग से बनती है। नाम-कर्म की अनेक प्रकृतियां हैं। त्रस नाम, स्थावर नाम, सूक्ष्म नाम और बादर नाम प्रकृतियों का उदय जिन जीवों के होता है, वे क्रमशः त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर कहलाते हैं। जीवों के इस संसार को समझे बिना अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। इसलिए इसको गहराई से समझना जरूरी है।

पर्याप्त-अपर्याप्त

जीव के दो-दो प्रकार करने से जो पांच वर्ग बनते हैं, उनमें अन्तिम वर्ग है –

पर्याप्त और अपर्याप्त का। अन्य वर्गों की भांति इस वर्ग में भी विश्व के सारे प्राणी समा जाते हैं। समग्र संसार में जितनी जीव-जातियां हैं, वे या तो पर्याप्त होंगी या अपर्याप्त होंगी। तीसरा कोई विकल्प बाकी नहीं रहता है।

सामान्यत: पर्याप्त का अर्थ होता है – पूर्ण और अपर्याप्त का अर्थ होता है – अपूर्ण। किन्तु यहां इन दोनों शब्दों का विषेष अर्थ है। ये जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। इनका सम्बन्ध पर्याप्तियों से है। 'भवारम्भे पौद्गलिकसामर्थ्यनिर्माणं पर्याप्ति:' जन्म के आरम्भ में जीवन-यापन के लिए आवश्यक पौद्गलिक शक्ति के निर्माण का नाम पर्याप्ति है। पर्याप्तियां संख्या मे छह हैं – आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मन पर्याप्ति। इनका विशद विवेचन ग्यारहवें बोल की व्याख्या में उपलब्ध हो सकेगा।

कौन से जीव पर्याप्त हैं और कौन से अपर्याप्त? इस संदर्भ मे इतना ही ज्ञातव्य है कि प्रत्येक जीव प्रारम्भ में अपर्याप्त होता है। जिस जन्म में जितनी पर्याप्तियां प्राप्त करनी है, उन्हें पूरा पा लेने के बाद जीव पर्यप्त बनता है। अपर्याप्त अवस्था का कालमान बहुत कम है। पर्याप्त हो जाने के बाद जीवन भर वही स्थिति रहती है। अपर्याप्त अवस्था में मृत्यु को प्राप्त होने वाले जीवों को छोड़कर पृथ्वी, पानी आदि सूक्ष्म जीवों से लेकर मनुष्य और देवों तक सभी जीव पहले अपर्याप्त और कालान्तर मे पर्याप्त – इन दोनों स्थितियों से गुजरते हैं। केवल सम्मूर्च्छिम मनुष्य की योनि में उत्पन्न होने वाले जीव अपर्याप्त ही होते हैं। उनके तीन पर्याप्तियां पूर्ण हो जाती है, पर चौथी पर्याप्ति को पूरा किए बिना ही वे मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। इसीलिए उनको अपर्याप्त ही माना गया है।

पर्याप्तियों के निर्माण में बहुत कम समय लगता है। लगभग एक मुहूर्त्त के भीतर सब पर्याप्तियों का निर्माण हो जाता है। एक इन्द्रिय वाले जीवों के चार पर्याप्तियां होती है। दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीवों के पांच पर्याप्तियां होती हैं। देवों के मन और भाषा में कोई भेद नहीं रहता, इस दृष्टि से पांच पर्याप्तियां मानी गई है। पांच इन्द्रिय वाले तिर्यंच, मनुष्य और नारक जीवों के छहों पर्याप्तियां होती हैं।

४. जीव के तीन-तीन प्रकार हैं

१. स्त्री	**२. पुरुष**	**३. नपुंसक**
१. असंयमी	**२. संयमासंयमी**	**३. संयमी**
१. संज्ञी	**२. असंज्ञी**	**३. नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी**

चौथे बोल में जीव के तीन-तीन प्रकारो के तीन वर्ग हैं। प्रथम वर्ग के तीन प्रकार हैं—स्त्री, पुरुष और नपुंसक। जीवत्व की दृष्टि से ये सभी जीव हैं? इनके प्रकार लिंगभेद के आधार पर है। एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर चार इन्द्रिय वाले जीवों तक सब जीव नपुंसक होते हैं। पंचेन्द्रिय में नरक के जीव, सम्मूर्च्छिम मनुष्य एवं सम्मूर्च्छिम तिर्यंच नपुंसक होते हैं। गर्भज मनुष्य एवं तिर्यंच-स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों प्रकार के होते हैं। देवों के स्त्री और पुरुष—ये दो ही प्रकार हैं। वे नपुंसक नहीं होते।

स्त्री, पुरुष और नपुंसक का यह भेद केवल लिंग के आधार पर है। लिंग पहचान का माध्यम है। यह त्याज्य या ग्राह्य कुछ भी नहीं होता। त्याज्य है वेद या विकार, जो आत्मा को विकृत बनाता है। वेद का अस्तित्व आत्मविकास की नौवीं भूमिका (गुणस्थान) तक है। यह बन्धन का हेतु है, इसलिए त्याज्य है। वेद समाप्त होने के बाद भी लिंग का अस्तित्व बना रहता है। जब तक शरीर है, तब तक यानी आत्मविकास की चौदहवीं भूमिका तक लिंग है। लिंग-जन्य विकार पर विजय प्राप्त होने से ही अग्रिम भूमिकाओं तक पहुंच संभव है। इस दृष्टि से वेद और लिंग का भेद समझकर साधना के पथ को प्रशस्त करने की उपेक्षा है।

असंयमी, संयमासंयमी, संयमी

जीव के तीन प्रकारों में दूसरा वर्ग है—असंयमी, संयमासंयमी और संयमी। ये भेद साधना के आधार पर किए गए हैं।

जो प्राणी संसार से विरक्त होकर विवेकपूर्वक साधना का पथ स्वीकार करते हैं—पांच महाव्रत रूप संयम की साधना करते हैं, वे संयमी कहलाते हैं। संयम की साधना करने वाले केवल मनुष्य ही होते हैं।

जो प्राणी किसी प्रकार की साधना का संकल्प स्वीकार नहीं करते, असंयम के प्रवाह में बहते रहते हैं, वे असंयमी कहलाते हैं।

संयमासंयमी दोनों स्थितियों के बीच की अवस्था है। इसमें न एकान्ततः संयम होता है और न ही एकान्ततः असंयम होता है। यथासंभव संयम की साधना करने वाले इन प्राणियों में मनुष्य और तिर्यंच दोनों हो सकते हैं।

संजी, असंज्ञी, नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी

जीव के तीन प्रकारों में तीसरा वर्ग है-संज्ञी, असंज्ञी और नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी। संज्ञी का अर्थ है-समनस्क। समनस्क जीवों को पांच इन्द्रियों के अतिरिक्त मानसिक संवेदन की क्षमता भी प्राप्त होती है। इस विभाग में केवल पंचेन्द्रिय जीव आते हैं।

जो जीव संज्ञा-मानसिक संवेदन से शून्य होते हैं, वे असंज्ञी कहलाते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तक के जीव इस विभाग में आ जाते हैं।

जो जीव इन्द्रिय और मन के संवेदन से ऊपर उठ जाते हैं, जिन्हें संवेदन की कोई अपेक्षा नहीं रहती, वे नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी कहलाते हैं। ये केवलज्ञानी होते हैं। उनकी ज्ञान चेतना पूर्णतः विकसित हो जाती है। इसलिए मानसिक संवेदन अपने आप में कृतार्थ हो जाता है।

५. जीव के चार प्रकार हैं

१. नारक **२. तिर्यंच**

३. मनुष्य **४. देव**

नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव-चारों प्रकार के जीव जब तक कर्मों से बंधे हुए हैं, संसार में भ्रमण करते रहते हैं। जन्म और मृत्यु की परम्परा को दोहराते रहते हैं। इनका यह परिभ्रमण चार प्रकार की गतियों में होता है। गति का अर्थ है– एक जन्म-स्थिति से दूसरी जन्म-स्थिति को प्राप्त करने के लिए होने वाली जीव की यात्रा। उस यात्रा के पड़ाव चार हैं–नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। इस दृष्टि से इन्हें चार गति के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

नारक

नरक गति में रहने वाले जीव नारक कहलाते हैं। नारक जीवों के आवासस्थल, रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा आदि सात पृथ्वियों के पिण्ड में हैं। ये पृथ्वियां नीचे लोक

में हैं। इनमे रहने वाले जीव बहुत अधिक वेदना-कष्ट का वेदन करते हैं। इनकी वेदना तीन प्रकार की होती है –

१. उस क्षेत्र के प्रभाव से होने वाली वेदना।

२. नैरयिक जीवों द्वारा परस्पर लड़ाई-झगड़ा कर उत्पन्न की गई वेदना।

३. परमाधर्मिक देवों के द्वारा दी जाने वाली वेदना।

इन देवों द्वारा दी जाने वाली वेदना तीन नरक भूमियों में होती है। उससे आगे दो ही प्रकार की वेदना रहती है। नारक जीवों का दुःख उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इन नरकभूमियों मे उन जीवों को जाना पड़ता है, जो अत्यन्त क्रूरकर्मा और बुरे विचारों वाले होते हैं। जैन दर्शन के अनुसार रत्नप्रभा नामक पहली पृथ्वी के ऊपर यह मनुष्य लोक है।

तिर्यंच

नरक के बाद दूसरी गति का नाम है – तिर्यंच गति। इस गति में रहने वाले जीव संख्या में सबसे अधिक हैं। एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर चार इन्द्रिय वाले जीवों तक सभी जीव निश्चित रूप से तिर्यंच ही होते हैं। इनमें पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, कृमि, चींटी, मक्खी, मच्छर आदि अनेक जीव हैं। कुछ पंचेन्द्रिय जीव भी तिर्यंच होते हैं, जैसे – पशु, पक्षी आदि। इनके अनेक प्रकार हैं, जैसे – मछली आदि जलचर पंचेन्द्रिय है। गाय, भैंस आदि स्थलचर पंचेन्द्रिय हैं। पक्षी खेचर पंचेन्द्रिय हैं।

तिर्यंच गति में कुछ जीव बहुत शक्तिषाली होते हैं। उनसे मनुष्य भी डरते हैं। उनमें ज्ञान भी होता है। फिर भी उनका विवेक जागृत नहीं होता। इस दृष्टि से तिर्यंच गति को अप्रशस्त गति माना गया है।

मनुष्य

चार गतियो मे तीसरी गति है – मनुश्य की। मनुश्य तीन प्रकार के होते है – कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और सम्मूर्च्छिम। कर्मभूमिज मनुष्य कर्म-क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं। वे कृषि, मसि, असि आदि साधनों से अपनी जीविका चलाते हैं और अपने पुरुषार्थ का उपयोग करते हैं। अकर्मभूमिज मनुष्य 'यौगलिक' कहलाते हैं। उन्हें अपनी आजीविका के लिए कृषि, मसि, असि, आदि का सहारा लेने की

अपेक्षा नहीं होती। उनके जीवन-यापन का साधन कल्पवृक्ष होते हैं। उनके जीवन की आवश्यकताएं इतनी न्यूनतम हैं कि कल्पवृक्षों से जो कुष्ठ प्राप्त होता है, वे उसी में सन्तुष्ट हो जाते हैं।

सम्मूर्च्छिम मनुष्य नाम से तो मनुष्य ही है, पर उनमें मनुष्यता जैसा कुछ भी नहीं है! मानव-शरीर से विसर्जित मल-मूत्र आदि चौदह स्थानक में उन जीवों की उत्पत्ति होती है। वे पांच इन्द्रियों से युक्त होते है, पर मानसिक संवेदन से रहित होते हैं। मनुष्य गति प्राप्त करने पर भी वे जीव किसी प्रकार का विकास नहीं कर सकते।

एक दृष्टि से मनुष्य सृष्टि का नियंता है। वह एक ओर प्रकृति के अज्ञात रहस्यों की खोज कर संसार को चमत्कृत कर रहा है तो दूसरी ओर अपने शारीरिक ओर मानसिक सुख के लिए वैज्ञानिक उपकरणों का निर्माण भी कर रहा है। साधना के द्वारा विशिष्ट शक्तियां, सिद्धियां ओर लब्धियां प्राप्त करने वाला प्राणी भी मनुष्य ही है। इस शताब्दी के मानव ने तो परखनली में मानव-संरचना का अभूतपूर्व कार्य सम्पन्न कर एक और नया आश्चर्य उपस्थित कर दिया है।

मनुष्य मृत्यु के बाद पुनः मनुष्य रूप में जन्म ले सकता है। वह देव, तिर्यंच और नारक भी बन सकता है। इसमें ही वह क्षमता है, जिसके द्वारा वह समूचे लोक को अतिक्रान्त कर लोकशीर्ष पर सिद्धात्मा के रूप में प्रतिष्ठा पा सकता है। यह विशेषता केवल मनुष्य-गति में ही है, इसलिए इसे बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है।

देव

जीव की चार गतियों में अन्तिम गति है—देव गति। जैन आगमों मे देवों के चार प्रकार बतलाए गए है—भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। असुरकुमार, नागकुमार आदि भवनपति देवों के आवास नीचे लोक मे है। पिशाच, भूत, यक्ष आदि व्यन्तर देव और सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिष्क देव तिरछे लोक में रहते हैं। वैमानिक देव ऊंचे लोक में रहते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। बारह देवलोक के देव कल्पोपपन्न होते हैं। उनसे ऊपर नौ ग्रैवेयक और पांच अनुत्तर विमान के देव कल्पातीत होते हैं। उनमें स्वामी-सेवक जैसी कोई भेदरेखा नहीं होती। बारह देवलोकों में प्रथम आठ देवलोकों का आधिपत्य एक-एक इन्द्र के हाथ में है। नौवें और दसवें स्वर्ग को एक इन्द्र

संभालता है। इसी प्रकार ग्यारहवें और बारहवें स्वर्ग का भी इन्द्र एक ही है। इस क्रम से बारह देवलोकों में दस इन्द्र हो जाते हैं।

देवगति का आयुष्य पूरा करने के बाद कोई भी देव तत्काल पुनः देव नहीं बन सकता। इसी प्रकार नारक जीव भी मृत्यु प्राप्त कर तत्काल नरक गति में उत्पन्न नहीं होता। इन दोनों गतियो के जीवो में पारस्परिक संक्रमण भी नहीं होता – देव नरकगति में उत्पन्न नहीं होते और नारक स्वर्ग में उत्पन्न नहीं होते। मनुष्य और तिर्यंच मृत्यु के बाद किसी भी गति में उत्पन्न हो सकते हैं। मोक्ष की प्राति केवल मनुष्य गति से ही हो सकती है।

स्वर्ग और नरक को सभी आस्तिक दर्शनों ने अपनी स्वीकिति दी है, पर उसके स्वरूप को लेकर काफी मतभेद है। यहां जो विवेचन है, वह जैन दर्शन की मान्यता के आधार पर किया गया है।

६. जीव के पांच प्रकार हैं

१. एकेन्द्रिय ४. चतुरिन्द्रिय
२. द्वीन्द्रिय ५. पंचेन्द्रिय
३. त्रीन्द्रिय

छठे बोल में जीव के पांच प्रकार बताए गए हैं – एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

जीव का प्रमुख लक्षण है – चेतना। चेतना एसा तत्त्व है जो अरूप है, अशब्द है, अगंध है, अरस है और अस्पर्श है। उसके स्वरूप-बोध का प्रकृष्टतम साधन है केवलज्ञान। केवलज्ञान मूर्त और अमूर्त सब पदार्थों को जानने और देखने में सक्षम है। मूर्त पदार्थों का ज्ञान दूसरे माध्यमों से भी हो सकता है पर अमूर्त पदार्थ का सर्वाङ्गीण ज्ञान केवलज्ञानी ही कर सकता है।

चेतना अमूर्त है। उसे जानने का साधन केवलज्ञान हमारे पास नहीं है। ऐसी स्थिति में उसका खण्डशः ज्ञान करने में हमारी इन्द्रियां, मन, संवेदन, अनुमान, आगम आदि ज्ञानधाराएं निमित्त बनती है। इन निमित्तों में इन्द्रियां एक प्रबल निमित्त है। इन्द्रियों के आधार पर चेतना की जो अभिव्यक्ति होती है, उसी के आधार पर यहां जीव के पांच प्रकार किए गए हैं।

संसार में जितनी जीव-जातियां है, उसमें सबसे कम विकसित चेतना एकेन्द्रिय जीवों की है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति – ये सब एक स्पर्शन इन्द्रिय वाले जीव हैं। ये न चख सकते है, न सूंघ सकते हैं, न देख सकते हैं और न सुन सकते हैं। इनका सारा काम एक स्पर्श के आधार पर चलता है। इस विभाग में संसारी जीवों का इतना बड़ा पिण्ड है, जो गणित की गणना का विषय नहीं हो सकता।

द्वीन्द्रिय जीवों में स्पर्शन और रसन – इन दो इन्द्रियों का विकास होता है। इन जीवों की चेतना इन्हीं दो बिन्दुओं पर केन्द्रित हैं। इसलिए इनका सारा काम इन दो माध्यमों से हो जाता है। कृमि, शंख, अलसिया आदि अनेक प्रकार के जीव इस विभाग में है, जो अपनी स्पर्शन और रसन क्षमता के आधार पर जीवन-यापन करते हैं।

त्रीन्द्रिय जीवों मे घ्राण चेतना और विकसित हो जाती है। इस विभाग के जीव त्वचा के द्वारा इष्ट, अनिष्ट की पहचान कर सकते हैं, रसना के द्वारा चख सकते हैं और घ्राण-नासिका के द्वारा सूंघ सकते हैं। इस वर्ग में आने वाले जीव हैं – चींटी, जलौका, जूं, लीख, खटमल आदि।

चतुरिन्द्रिय जीवों में स्पर्शन, रसन और घ्राण चेतना के साथ देखने की क्षमता भी होती है। इनमें केवल सुनने की क्षमता-श्रोत्रेन्द्रिय शेष रहती है। मक्खी, मच्छर, पतंग, भ्रमर आदि जीव चतुरिन्द्रिय कहलाते हैं।

पंचेन्द्रिय जीवों की ऐन्द्रियिक क्षमता पूर्ण रूप से विकसित हो जाती है। स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु के साथ इनको सुनने के लिए कान भी मिल जाते हैं। ये जीव अन्य सब जीवों से उत्कृष्ट है, क्योंकि इनकी इन्द्रिय चेतना उनसे अधिक स्पष्ट और परिपूर्ण है। इस विभाग में पशु, पक्षी, नारक, देव और मनुष्य- इन सब प्राणियों का समावेश हो जाता है।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी प्राणी संसारी प्राणी हैं। संसरणशील प्राणियों में विकास का जो तारतम्य है, उसको अभिव्यक्ति देने वाले अनेक बिन्दुओं में एक बिन्दु इन्द्रिय-चेतना है, इसी दृष्टि से इनके आधार पर जीवों का वर्गीकरण किया गया है।

७. जीव के छह प्रकार हैं

१. पृथ्वीकायिक	**४. वायुकायिक**
२. अप्कायिक	**५. वनस्पतिकायिक**
३. तेजस्कायिक	**६. त्रसकायिक**

सातवें बोल में जीव के छह प्रकार बताए गए हैं—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक। ये छहों प्रकार जैन आगमों में छह जीवनिकाय के रूप में प्रसिद्ध हैं। मुमुक्षु व्यक्ति के लिए इनका बोध होना बहुत जरूरी है। यदि वह इन जीव-निकायों को नहीं जानता है तो उसकी साधना का आधार क्या होगा? 'पढमं नाणं तओ दया'—पहले ज्ञान, फिर अहिंसा। 'धर्म-प्रज्ञप्ति' का यह स्पष्ट संकेत है कि ज्ञान के बिना अहिंसा का आचरण नहीं हो सकता। अहिंसा के राजपथ पर चरण बढ़ाने के लिए पृथ्वीकायिक आदि छहों जीव-निकायों को समझना बहुत जरूरी है।

काय का अर्थ है शरीर। पृथ्वी है जिन जीवों का शरीर, वे जीव पृथ्वीकायिक हैं। इस वर्ग में मिट्टी, मुरड़, हीरा, पन्ना, कोयला, सोना, चांदी आदि अनेक प्रकार के जीव है। मिट्टी की एक छोटी-सी डली में असंख्य जीव होते हैं। ये जीव एक साथ रहने पर भी अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाये रखते हैं।

पानी जिन जीवों का शरीर है, वे जीव अप्कायिक हैं। सब प्रकार का पानी, ओले, कुहरा आदि अप्काय के जीव है। इन जीवों के शरीर इतने सूक्ष्म होते है कि एक-एक शरीर हमें दिखाई ही नहीं देता। पानी की बूंद अप्कायिक जीवों के असंख्य शरीरों का पिण्ड है।

जिन जीवों का शरीर अग्नि है, वे जीव तेजस्कायिक कहलाते हैं। इस जीव-निकाय में अंगारे, ज्वाला, उल्का आदि का समावेष हैं। पानी की बूंद की भांति अग्नि की एक छोटी-सी चिनगारी में भी अग्नि के असंख्य जीवों के शरीरों का अस्तित्व है।

जिन जीवों का शरीर वायु है, वे जीव वायुकायिक कहलाते हैं। संसार में जितने प्रकार की वायु है, वह इसी काय में अन्तर्गर्भित है। इस काय में भी असंख्य जीव है, जो पृथक्-पृथक् शरीर में रहते हैं।

जिन जीवों का शरीर वनस्पति है, वे जीव वनस्पतिकायिक कहलाते हैं। इस काय में रहने वाले जीवों के दो प्रकार हैं—प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति। प्रत्येक वनस्पति के जीव एक-एक शरीर में एक-एक ही होते हैं। एक जीव के आश्रित असंख्य जीव रह सकते हैं, पर उनकी सत्ता स्वतंत्र है।

साधारण वनस्पति में एक-एक षरीर अनन्त जीवों का पिण्ड होता है। सब प्रकार की काई, कन्दमूल आदि साधारण वनस्पति के जीव हैं।

त्रस नाम कर्म के उदय का वेदन करने वाले अथवा सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति के उद्देश्य से गति करने वाले जीव त्रसकायिक कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों का समावेष इस वर्ग में होता है।

इन छह जीव-निकायों के विवेचन से एक प्रश्न उठ सकता है कि पृथ्वी आदि सब जीव हैं और इन्हे उपयोग में लेने से हिंसा होती है। मुनि हिंसा से उपरत होते हैं। उनका काम कैसे चलेगा? प्रश्न सही है। मुनि न तो हिंसा करते हैं और न अपने लिए गृहस्थों से करवाते हैं। इस स्थिति में साधुओं के लिए किसी पदार्थ को निर्जीव नहीं किया जा सकता। किन्तु सहज रूप में गृहस्थ अपने लिए जो खाद्य पदार्थ बनाए, वे निर्जीव और एषणीय हों तो साधुओं के काम आ सकते हैं। शास्त्रों में बताया गया है कि पृथ्वी, पानी आदि तब तक ही सजीव हैं, जब तक ये शस्त्र-परिणत नहीं हो जाते हैं। अग्नि में पकने या अन्य प्रकार की मिट्टी के स्पर्श से मिट्टी जीव रहित हो जाती है। पानी भी उबलने पर जीवरहित हो जाता है। इसी प्रकार वनस्पति भी जीवरहित हो जाती है। जीवमुक्त होने के बाद इनके उपयोग से किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती। जैन दर्शन में जीवनिकायों का जो यह वर्गीकरण किया गया है, वह अपने आप में विलक्षण है।

८. दण्डक के चौबीस प्रकार हैं

१. सात नारकी का दण्डक

२-११. भवनपति देवों के दण्डक दस-असुरकुमार आदि।

१२. पृथ्वीकाय का दण्डक	**१९. चतुरिन्द्रिय का दण्डक**
१३. अप्काय का दण्डक	**२०. तिर्यंच पंचेन्द्रिय का दण्डक**
१४. तेजस्काय का दण्डक	**२१. मनुष्य पंचेन्द्रिय का दण्डक**

१५. वायुकाय का दण्डक
१६. वनस्पतिकाय का दण्डक
१७. द्वीन्द्रिय का दण्डक
१८. त्रीन्द्रिय का दण्डक
२२. व्यन्तर देवों का दण्डक
२३. ज्योतिष्क देवों का दण्डक
२४. वैमानिक देवों का दण्डक

संसारी जीव प्रवृत्ति करता है। प्रवत्ति से कर्म का बन्ध होता है। बंधे हुए कर्म का फल भोगे बिना उससे छुटकारा नहीं मिलता। जिन स्थानों मे प्राणी अपने किए हुए कर्मों का फल भोगते हैं, वे स्थान दण्डक कहलाते हैं। फल भोगने के लिए जीव चार गति वाले संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। उन चार गतियो को ही थोड़ा विस्तार देने से चौबीस दण्डक होते हैं।

सात नरक भूमियों मे रहने वाले जीवों का एक ही दण्डक होता है। रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तम:प्रभा, महातम:प्रभा-ये सात पृथ्वियां हैं। इनमें नारक जीव निवास करते हैं।

नारक जीवों के बाद भवनपति देवों के दण्डक हैं। उनके दण्डक दस है – दूसरे से ग्यारहवें तक। असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युतकुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार – ये दस प्रकार के भवनपति देव हैं।

भवनपति देवों के आवास रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक भूमि हैं। यह पृथ्वी १ लाख ८० हजार योजन का पिंड है। इस पिंड का एक हजार योजन ऊपर और एक हजार योजन नीचे का भाग छोड़कर मध्यवर्ती १ लाख ७८ हजार योजन का पिंड हैं। उसमें १३ प्रस्तट और १२ अन्तर हैं। उन बारह अन्तरों में एक ऊपर का और एक नीचे का – इन दो अन्तरों को छोड़कर शेष दस अन्तरों में दस प्रकार के भवनपति देवों के आवास हैं।

यहां एक प्रश्न उठता है कि सात नारकी का दण्डक एक ही माना गया है। उसी प्रकार यहां दस भवनपति देवों का दण्डक एक क्यों नहीं हुआ? प्रश्न अस्वाभाविक नहीं है। इसके उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि भेद और अभेद का आधार विवक्षा है। विस्तार की विवक्षा में अनेक भेद हो जाते हैं। संक्षेप की विवक्षा में एक ही भेद से काम हो जाता है।

स्थावर जीवों के पांच दण्डक हैं – पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय

और वनस्पतिकाय के दण्डक स्वतंत्र माने गए हैं। इस विवक्षा से स्थावर जीवों के पांच दण्डक हो जाते हैं।

इनके बाद आठ दण्डक बतलाए गए है। इनमें चार दण्डक तिर्यंचों के हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रिय। एक दण्डक मनुष्य का है। शेष तीन दण्डक देवों के है—व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

व्यन्तर देव तिरछे लोक में रहते हैं। उनके आवास हमारी पृथ्वी के नीचे हैं। यह पृथ्वी रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक भूमि की छत के रूप में है। इस छत की मोटाई एक हजार योजन की है। इसमें एक सौ योजन ऊपर और एक सौ योजन नीचे का स्थान खाली है। मध्य में ८०० योजन का स्थान है। वहां व्यन्तर देवों के आवास हैं। वे देव इस पृथ्वी पर पहाड़ों, गुफाओं, वृक्षों तथा सूने घरों मे रहते हैं। किन्तु उनके आवास पृथ्वी से नीचे है व्यन्तर देव आठ प्रकार के होते हैं—पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गन्धर्व।

ज्योतिष्क देव भी तिरछे लोक में होते हैं। उनके पांच प्रकार हैं—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा। मनुष्य लोक के ज्योतिष्क देव भ्रमणशील हैं, उससे बाहर के सूर्य, चन्द्रमा आदि स्थिर रहते हैं।

ज्योतिष्चक्र से असंख्य योजन की दूरी पर छब्बीस देवलोक हैं। प्रथम बारह देवलोको में जो देव रहते है, उनमें इन्द्र, आत्मरक्षक, लोकपाल आदि अनेक प्रकार के देव होते हैं। इनसे ऊपर नौ ग्रैवेयक देवों के विमान हैं। इन देवों की ऋद्धि और ऐश्वर्य में कोई अन्तर नहीं होता। इन नौ विमानों से ऊपर पांच विमान हैं, जो अनुत्तर स्वर्ग के विमान कहलाते हैं। उनके नाम हैं—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध। इन सब देवों का दण्डक एक ही है।

ऊपर के देव नीचे के देवों की अपेक्षा स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या की विशुद्धि आदि बातों में उत्कृष्ट होते हैं।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक—इन चार प्रकार के देवों के चौंसठ इन्द्र होते हैं—भवनपति देवों के बीस इन्द्र हैं। दस उत्तर दिशा के और दस दक्षिण दिशा के। व्यन्तर देवों के आठ भेद हैं। आठों ही व्यन्तर देव दो जातियों में बंटे हुए हैं—ऊंची जाति और नीची जाति। इस प्रकार इनकी—दो श्रेणियां हो गई। दोनों श्रेणियों के दक्षिण और उत्तर दिशा में सोलह-सोलह आवास हैं। प्रत्येक

आवास का एक-एक इन्द्र होने से इनके बत्तीस इन्द्र हो गए। ज्योतिष्क देवों के दो इन्द्र है–सूर्य और चन्द्रमा। वैभानिक देवों के बारह स्वर्ग हैं। उनमें नौवें-दसवें एवं ग्यारहवें-बारहवें स्वर्गों के इन्द्र एक-एक हैं। इस प्रकार बारह स्वर्गों के दस इन्द्र हैं। कुल मिलाकर ये चौंसठ इन्द्र हैं। ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान के सभी देव अहमिन्द्र होते हैं। इनमें छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं होता।

जब तक जीव संसार में रहता है, उसे उक्त चौबीस दण्डकों में से किसी एक दण्डक में रहना जरूरी होता है। मुक्त होने वाला जीव ही इन दण्डकों से मुक्त होता है।

९. शरीर के पांच प्रकार हैं

१. औदारिक **४. तैजस**
२. वैक्रिय **५. कार्मण**
३. आहारक

आत्मा अरूप है, अशब्द है, अगन्ध है, अरस है, और अस्पर्श है, इसलिए अदृश्य है। किन्तु मूर्त शरीर से बंधी हुई होने के कारण वह दृश्य भी है। आत्मा जब तक संसार में रहेगी, वह स्थूल या सूक्ष्म किसी-न-किसी शरीर के आश्रित ही रहेगी। आत्मा और शरीर का यह सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। यहां प्रश्न होता है कि शरीर क्या है? और उसके कितने प्रकार हैं? नौवें बोल में इन्हीं प्रश्नों का समाधान है।

पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति का जो साधन है, वह शरीर है। जीव की जितनी प्रवृत्तियां होती हैं, वे शरीर के द्वारा ही होती हैं। शरीर के पांच प्रकार है– औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। इनमें औदारिक शरीर सबसे अधिक स्थूल है और कार्मण सबसे अधिक सूक्ष्म। वैक्रिय शरीर औदारिक की अपेक्षा सूक्ष्म होता है, आहारक उससे सूक्ष्म होता है, तैजस और कार्मण उससे भी सूक्ष्म होते हैं।

औदारिक शरीर की निष्पत्ति स्थूल पुद्गलों से होती है। इस शरीर का छेदन-भेदन हो सकता है। यह आत्मा से रहित होने पर भी टिका रहता है। नारक और देवों को छोडकर एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक सभी जीवों के औदारिक शरीर होता है। मोक्ष की प्राप्ति केवल इसी शरीर के द्वारा संभव है।

वैक्रिय शरीर में विविध प्रकार की क्रियाएं घटित होती हैं। यह शरीर छोटा, बड़ा, स्थूल, सूक्ष्म कैसा भी बनाया जा सकता है। मृत्यु के बाद इस शरीर का कोई अवशेष नहीं रहता। वह कपूर की भांति उड़ जाता है। नारक और देवों के यह शरीर सहज होता है। मनुष्य और तिर्यंच भी वैक्रिय लब्धि प्राप्त कर इस शरीर का निर्माण कर सकते हैं। वायुकायिक जीवों के स्वाभाविक रूप से वैक्रिय शरीर होता है।

विशिष्ट योगशक्तिसम्पन्न, चतुर्दश पूर्वधर मुनि विशिष्ट प्रयोजनवश एक शरीर की संरचना करते है, उसे आहारक शरीर कहा जाता है। यह शरीर औदारिक और वैक्रिय शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म तथा तैजस और कार्मण की अपेक्षा स्थूल होता है। फिर भी इसकी गति में किसी बाह्य व्यवधान का व्याघात नहीं हो सकता।

जो शरीर दीप्ति का कारण है और जिसमें आहार आदि पचाने की क्षमता है, वह तैजस शरीर है। इस शरीर के अंगोपांग नहीं होते। यह पूर्ववर्ती तीनों शरीरो से सूक्ष्म है।

पूर्ववर्ती औदारिक आदि चारो शरीरों का कारण है कार्मण शरीर, इस दृष्टि से इसे कारण शरीर भी कहा जाता है। इस शरीर का निर्माण ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म पुद्गलों से होता है।

तैजस और कार्मण शरीर मृत्यु के बाद भी जीव के साथ रहते हैं। कोई भी संसारी प्राणी इन दो शरीरों के बिना संसार में रह ही नहीं सकता। इन दोनों शरीरों से छूटते ही आत्मा मुक्त हो जाती है। फिर उसे संसार में परिभ्रमण नहीं करना पड़ता।

१०. इन्द्रिय के पांच प्रकार हैं

१. श्रोत्रेन्द्रिय **४. रसनेन्द्रिय**
२. चक्षुरिन्द्रिय **५. स्पर्शनेन्द्रिय**
३. घ्राणेन्द्रिय

प्रत्येक इन्द्रिय के दो-दो प्रकार हैं

१. द्रव्येन्दिय **२. भावेन्द्रिय**

द्रव्येन्द्रिय के दो प्रकार हैं

१. निर्वृत्ति **२. उपकरण**

भावेन्द्रिय के दो प्रकार हैं

१. लब्धि   २. उपयोग

एक निश्चित विषय का ज्ञान करने वाली आत्म-चेतना इन्द्रिय कहलाती है। ज्ञान आत्मा का धर्म है। चेतना का अभिन अंग है। इसलिए आता और ज्ञान के बीच में कोई व्यवधान नहीं रहता। किन्तु जो आत्मा अनावृत नहीं होती, कर्म-पुद्गलों से आबद्ध होती है, उसका ज्ञान भी आवृत रहता है। उस समय ज्ञान करने का माध्यम बनती है इन्द्रियां। दसवें बोल में इन्द्रियों की ही चर्चा है। इन्द्रिय के पांच भेद है। सब संसारी प्राणियों को ये सब इन्द्रियां प्राप्त नहीं होतीं। कम-से-कम एक और अधिक-से-अधिक पांच इन्द्रियों का स्वामित्व रखने वाले जीव के पांच प्रकारो की चर्चा छठे बोल में की जा चुकी है। इन्द्रियों की प्राति में शरीर नामकर्म के उदय तथा दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम का युगपत् योग रहता है।

इन्द्रिय के दो प्रकार हैं – द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। कान, नाक, जीभ आदि के रूप में जो दृश्य पौद्‌गालिक इन्द्रियां हैं, उनको द्रव्येन्द्रिय कहा जाता है। द्रव्येन्द्रिय के दो रूप हैं – निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय। निर्वृत्ति का अर्थ है आकार-रचना। वह दो प्रकार की होती है – बाह्य और आभ्यन्तर।

बाह्य आकार प्रत्येक जीव के प्रत्येक इन्द्रिय का स्वतंत्र होता है – उनमें एकरूपता नहीं होती। किन्तु प्रत्येक इन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार निर्धारित है। वह सब जीवों के एक समान होता है। केवल स्पर्शनेन्द्रिय का आकार भिन्न-भिन्न होता है।

द्रव्येन्द्रिय का दूसरा प्रकार है उपकरण द्रव्येन्द्रिय। इन्द्रिय की आभ्यन्तर निर्वृत्ति में अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की जो पौद्‌गलिक शक्ति है, वह उपकरण इन्द्रिय है। ज्ञान में उपकारक होने के कारण इसे उपकरण इन्द्रिय कहा गया है। उदाहरण के लिए एक चाकू को प्रतीक बनाया जा सकता है। एक चाकू का निर्माण बाह्य निर्वृत्ति है। चाकू की धार का निर्माण आभ्यन्तर निर्वृत्ति है। चाकू की धार में छेदन-भेदन की जो शक्ति है, वह है उपकरण द्रव्येन्द्रिय। छेदन-भेदन की शक्ति न हो तो चाकू की कोई उपयोगिता नहीं रहती। इसी प्रकार उपकरण द्रव्येन्द्रिय के क्षतिग्रस्त हो जाने पर निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय का काम रुक जाता है। इसलिए पदार्थ के ज्ञान में आत्म-शक्ति के साथ पौद्‌गलिक शक्ति का भी अपना मूल्य है।

भावेन्द्रिय के दो प्रकार हैं – लब्धि इन्द्रिय और उपयोग इन्द्रिय। लब्धि इन्द्रिय का अर्थ है ज्ञान करने की क्षमता की उपलब्धि। यह आत्मिक शक्ति है। दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से इस शक्ति की प्राप्ति होती है। आंख में देखने की शक्ति है, कान में सुनने की शक्ति है, नाक में सूंघने की शक्ति है, जीभ में चखने की शक्ति है और त्वचा में स्पर्श करने की शक्ति है। यह लब्धि भावेन्द्रिय हैं।

शक्ति प्राप्त होने पर भी वह तब तक कार्यकारी नहीं होती, जब तक उसका उपयोग न हो। इसलिए ज्ञान करने की शक्ति और उसे काम में लेने के साधन उपलब्ध करने पर भी उपयोग भावेन्द्रिय के अभाव में सारी उपलब्धियां अकिंचित्कर रह जाती हैं।

चाकू है, उसका आकार अच्छा है, उसकी धार तीक्ष्ण है, हाथ में चाकू चलाने की क्षमता भी है, पर जब तक चाकू चलाने का पुरुषार्थ नहीं होगा, छेदन-भेदन की क्रिया निष्पन्न नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार इन्द्रियों के आकार, उनमें निहित पौद्गलिक और आत्मिक शक्ति की सत्ता होने पर भी जब तक जीव उसका प्रयोग नहीं करता है, इन्द्रियां अपने विशय का ग्रहण नहीं कर सकती।

उपर्युक्त इन्द्रियों की प्राप्ति, का क्रम इस प्रकार है – सबसे पहले लब्धि-इन्द्रिय उसके बाद निर्वृत्ति इन्द्रिय, फिर उपकरण इन्द्रिय और इन सबके बाद उपयोग इन्द्रिय। लब्धि के बिना निर्वृत्ति और उपकरण इन्द्रियां नहीं हो सकतीं और निर्वृत्ति एवं उपकरण के बिना उपयोग इन्द्रिय नहीं हो सकती। लब्धि से उपयोग तक की शृंखला जुड़ी रहने से ही इन्द्रियां अपने-अपने विशय का ग्रहण कर सकती है। इनमें से किसी भी तंत्र के विकृत होने पर ज्ञान चेतना और विषय के बीच में व्यवधान उपस्थित हो जाता है।

इन्द्रिय ज्ञान व्यवहित ज्ञान है। यहां आत्मा और पदार्थ के बीच में तीसरे तत्त्व की उपस्थिति रहती है, इसलिए यह परोक्ष ज्ञान है। अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान – ये तीनों अतीन्द्रिय और प्रत्यक्षज्ञान कहलाते हैं। केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद इन्द्रिय-सम्पन्न व्यक्ति भी अनिन्द्रिय बन जाता है। क्योंकि वहां आकार रूप में सभी इन्द्रियों की सत्ता अवष्य है, किन्तु पदार्थ को जानने के लिए उनका उपयोग करने की अपेक्षा, नहीं रहती। वहां आत्मज्ञान के

आलोक में मूर्त-अमूर्त हर पदार्थ और घटना का प्रतिबिम्ब पड़ता है। उस प्रतिबिम्ब की ग्राहक स्वयं आत्मा होती है, इन्दिय नहीं। इस दृष्टि से केवलज्ञानी को अनिन्द्रिय कहा जाता है।

११. पर्याप्ति के छह प्रकार हैं

१. आहार ४. श्वासोच्छ्वास
२. शरीर ५. भाषा
३. इन्द्रिय ६. मन

संसारी प्राणी किसी भी जीवयोनि में उत्पन हो, वह जब तक जीवित रहता है तब तक उसे किसी पुष्ट आलम्बन की अपेक्षा रहती है। वह आलम्बन प्राणशक्ति तो है ही, उसके साथ एक विशिष्ट प्रकार की पौद्‌गलिक शक्ति भी है, जो पर्याति के नाम से अपनी पहचान कराती है। पर्याप्ति का अर्थ है जीवन धारण में उपयोगी पौद्‌गलिक शक्ति। यह शक्ति प्राणी उस समय ग्रहण करता है, जब वह एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे षरीर को धारण करता है। वहां वह एक साथ अपेक्षित पुद्‌गल-समूह ग्रहण करता है और उन्हें आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाशा और मन के रूप में परिणत कर वैसी पौद्‌गलिक क्षमता अर्जित कर लेता है।

आहार पर्याप्ति का बंध सबसे पहले होता है। इस पर्याप्ति के द्वार जीव जीवन भर आहार प्रायोग्य पुद्‌गलों के ग्रहण, परिणमन और विसर्जन करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। शरीर पर्याप्ति के द्वारा शरीर के अंगोपांगों का निर्माण होता है। इन्द्रिय पर्याप्ति त्वचा आदि इन्द्रियों के निर्माण का कार्य सम्पन्न करती है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति के द्वारा श्वास-वायु के ग्रहण और उत्सर्जन की क्षमता प्राप्त होती है। भाशा पर्याप्ति भाशा के योग्य पुद्‌गलों का ग्रहण और उत्सर्जन करती है। मनः पर्याति मननयोग्य पुद्‌गलों के ग्रहण करने और छोड़ने में जीव का सहयोग करती है।

छहों पर्याप्तियों को एक मकान के प्रतीक से अच्छी प्रकार समझा जा सकता है — मकान-निर्माता मकान बनाने की योजना क्रियान्वित करते समय पत्थर, चूना, सीमेंट, काठ आदि सारी सामग्री एकत्रित करता है। इसी तरह सब प्रकार की

पौद्गलिक सामग्री के संचयन का काम आहार पर्याप्ति का है।

मकान-निर्माता अपनी संग्रहीत सामग्री का वर्गीकरण करता है—पत्थर दीवार में काम आएगा, अमुक काष्ठ कपाट के काम आएगा। इसी प्रकार शरीर के अंगोपांगों के वर्गीकरण का काम शरीर पर्याप्ति का है।

मकान बनाते समय उसमें हवा, प्रकाश आदि के प्रवेश, निर्गमन हेतु तथा आने-जाने के लिए द्वार, खिड़कियां आदि बनाई जाती हैं। इसी प्रकार इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और भाषा पर्याति होती है।

मकान बनाने के बाद व्यक्ति आवश्यकता और समय के अनुसार उसका उपयोग करता है। निर्वात कमरों का उपयोग सर्दी में करता है और हवादार कमरों को गर्मी में काम लेता है। यह काम मन:पर्याप्ति का है। कब क्या करना है? कैसे करना है? आदि चिन्तन-मनन की समूची शक्ति मन पर्याप्ति सापेक्ष है।

इन छहों पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक साथ होता है और पूर्णता क्रमिक रूप से होती है। आहार पर्याप्ति की पूर्णता एक समय में हो जाती है। पर्याप्तियों को पूर्ण होने में एक-एक अन्तर्मुहूर्त्त जितना समय लगता है। प्राणी की प्रत्येक गतिविधि में इन पर्याप्तियों का पूरा-पूरा सहयोग रहता है।

१२. प्राण के दस प्रकार हैं

१. श्रोत्रेन्द्रिय प्राण	**६. मनोबल प्राण**
२. चक्षुरिन्द्रिय प्राण	**७. वयनबल प्राण**
३. घ्राणेन्द्रिय प्राण	**८. कायबल प्राण**
४. रसनेन्द्रिय प्राण	**९. श्वासोच्छ्वास प्राण**
५. स्पर्शनेन्द्रिय प्राण	**१०, आयुष्य प्राण**

प्राणु का अर्थ है जीवनी शक्ति। इस शक्ति का सीधा संबंध जीव से है फिर भी यह पौद्गलिक शक्ति सापेक्ष है। इसीलिए प्राण को परिभाषित करते हुए कहा गया है-'पर्याप्त्यपेक्षिणी जीवनशक्तिः प्राणाः।' जीवन धारण करने में प्राणशक्ति का उपयोग होता है। प्राणी की प्राण-शक्ति का वियोजन होते ही मृत्यु हो जाती है। यह शक्ति तब प्राप्त होती है, जब जीव जन्म धारण करने के अनन्तर पर्याप्तियां बांध लेता है। इस दृष्टि से प्राण और पर्याप्ति परस्पर संबद्ध हैं।

प्राण संख्या में दस हैं – उनमें पांच प्राणों का संबंध इन्द्रिय पर्याप्ति से है। मनबल, वचनबल और कायबल का संबंध मन: पर्याप्ति, भाशा पर्याप्ति एवं शरीर पर्याप्ति के साथ है। श्वासोच्छ्वास प्राण श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति से जुड़ा हुआ है। आयुष्य प्राण का संबंध आहार पर्याप्ति से है। जब तक ओज आहार रहता है, तब तक आयुष्य बल के आधार पर प्राणी जीवित रहता है। ओज आहार की समाप्ति आयुष्य की समाति है। आयुष्य बल क्षीण होते ही प्राणी की मृत्यु हो जाती है।

संसार में रहने वाले सभी प्राणी सप्राण होते है, किन्तु सब प्राणियों के प्राणो की संख्या समान नहीं होती। एक इन्द्रिय वाले प्राणियों में चार प्राण पाए जाते हैं। दो इन्द्रिय वाले जीवों में प्राणों की संख्या छह हो जाती है। तीन इन्द्रिय वाले जीवों में प्राण सात, चार इन्द्रिय वाले जीवों में प्राण आठ और पांच इन्द्रिय वाले जीवों में दसों प्राण पाये जाते हैं।

मुक्त आत्माएं सब प्रकार की पौद्‌गलिक शक्तियों से निरपेक्ष हो जाती हैं, इसलिए उनमें इन दस प्राणों में से एक भी प्राण नहीं पाया जाता। क्योंकि प्राण जीवनी शक्ति होने पर भी पौद्‌गलिक शक्ति-पर्याप्तियों की अपेक्षा रखते हैं। मुक्त जीव में शुद्ध चेतना मात्र अवशिष्ट रहती है। पुद्‌गल का प्रभाव वहां सर्वथा क्षीण हो जाता है। इसलिए प्राण की सत्ता केवल संसारी प्राणियों में ही रहती है।

१३. योग के तीन प्रकार हैं

१. मनोयोग   २. वचनयोग   ३. काययोग

मनोयोग के चार प्रकार हैं

१. सत्य मनोयोग   ३. मिश्र मनोयोग
२. असत्य मनोयोग   ४. व्यवहार मनोयोग

वचनयोग के चार प्रकार हैं

१. सत्य वचनयोग   ३. मिश्र वचनयोग
२. असत्य वचनयोग   ४. व्यवहार वचनयोग

काययोग के सात प्रकार हैं

१. औदारिक काययोग
२. औदारिकमिश्र काययोग
३. वैक्रिय काययोय
४. वैक्रियमिश्र काययोग
५. आहारक काययोग
६. आहारकमिश्र काययोग
७. कार्मण काययोग

योग शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। उन अर्थों में दो अर्थ-मिलन और समाधि अधिक प्रसिद्ध हैं। वर्तमान युग में योग एक प्रकार की साधना पद्धति अथवा आसन प्रयोग के अर्थ में काफी प्रचलित है। जैन शास्त्रों में योग शब्द इन सबसे भिन्न अर्थ में आता है। शास्त्र प्रचलित अर्थ के अनुसार योग को परिभाषित करते हुए 'जैन सिद्धान्त दीपिका' में लिखा गया है– 'कायवाङ्मनोव्यापारो योगः।' शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति का नाम योग है। 'कालू तत्त्वशतक' में इसी अर्थ में योग शब्द का प्रयोग हुआ है।

योग शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का होता है। उसके सावद्य और निरवद्य- ये दो भेद भी उपलब्ध हैं। पर मूलतः उसके तीन भेद हैं– मनोयोग, वचनयोग और काययोग। योग एक प्रकार का स्पन्दन है, जो आत्मा और पुद्‌गलवर्गण के संयोग से होता है। अध्यवसाय, परिणाम और लेश्या भी एक प्रकार से स्पन्दन ही हैं। पर वे अति सूक्ष्म स्पन्दन है, इसलिए सामान्यत पकड़ में नहीं आते। योग स्थूल स्पन्दन हैं। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम, नाम कर्म के उदय तथा मन, वचन और कायवर्गणा सापेक्ष आत्मा की जो प्रवृत्ति होती है, वह योग कहलाती है।

पुद्‌गल-वर्गणा के संयोग से आत्मा में जो स्पन्दन होता है, वह मूलतः एक ही प्रकार का है, पर विवक्षा या निमित्त भेद के आधार पर उसे तीन रूपों में विभक्त कर दिया गया है। मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति में जो पौद्‌गलिक शक्ति काम मे आती है, वह योग नहीं किन्तु पर्याप्ति है। पर्याप्ति का स्वरूप पिछले पाठ में स्पष्ट हो चुका है। उस पौद्‌गलिक शक्ति के प्रयोग का नाम योग है।

मन, वचन और काययोग– इन तीन योगों में काययोग प्रत्येक प्राणी में होता है। केवल शैलेशी अवस्था (अयोगी गुणस्थान) में नहीं होता। संसार भर के प्राणी त्रस और स्थावर इन दो वर्गों में बंटे हुए हैं। स्थावर प्राणियों एवं असंज्ञी मनुष्य

में केवल काययोग होता है। दो इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर चार इन्द्रिय वाले जीवों तथा असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों में काययोग और वचनयोग होते हैं। संज्ञी मनुष्य और संज्ञी तिर्यंच जीवों में काययोग, वचनयोग और मनोयोग तीनों होते हैं।

मनोयोग

मन हमारी प्रवृत्ति का सूक्ष्म किन्तु प्रमुख कारण है। मन के द्वारा होने वाला आत्मा का प्रयत्न मनोयोग है। उसके चार भेद हैं—सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, मिश्र मनोयोग और व्यवहार मनोयोग।

सत्य के विषय में होने वाली मन की प्रवृत्ति सत्य मनोयोग है।

असत्य के विषय में होने वाली मन की प्रवृत्ति असत्य मनोयोग है।

सत्य-असत्य के मिश्रण में होने वाली मन की प्रवृत्ति मिश्र मनोयोग है।

मन की जो प्रवृत्ति सत्य भी नहीं है और असत्य भी नहीं है, उस प्रवृत्ति का नाम व्यवहार मनोयोग है। इसका सम्बन्ध मुख्यतः आदेशात्मक, उपदेशात्क चिन्तन से है।

वचनयोग

भाशा के द्वारा होने वाला आत्मा का प्रयत्न वचनयोग है। मनोयोग की ही भांति वचनयोग के भी चार प्रकार हैं।

काययोग

शरीर के द्वारा हीने वाला आत्मा का प्रयत्न काययोग है। काययोग का सम्बन्ध शरीर के साथ है। शरीर पांच हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण।

मनुष्य और तिर्यंच गति के जीव औदारिक शरीर वाले होते हैं। औदारिक शरीर वाले जीवों की हलन-चलन रूप प्रवृत्ति औदारिक काययोग कहलाती है।

काययोग का दूसरा भेद है—औदारिकमिश्रकाययोग। औदारिक का मिश्र कार्मण, वैक्रिय और आहारक इन तीनों शरीरो के साथ होता है। वह चार प्रकार से हो सकता है—

(क) मृत्यु के समय पिछला शरीर छूट जाता हैं उसके बाद मनुष्य और तिर्यंच गति में उत्पन्न होने वाला जीव अपने नये उत्पत्ति स्थान में पहुंचकर आहार ग्रहण कर लेता है, पर जब तक शरीर पर्याप्ति का बन्ध पूरा नहीं होता है, तब तक कार्मण काययोग के साथ औदारिक का मिश्र होता है।

(ख) केवली समुद्घात के समय दूसरे, छठे और सातवें समय में कार्मण काययोग के साथ औदारिक का मिश्र होता है।

(ग) विशिष्ट षक्तिसम्पन्न योगी आहारकलब्धि का प्रयोग करता है। जब तक आहारक शरीर पूरा नहीं बन जाता, तब तक आहारक काययोग के साथ ओदारिक का मिश्र होता है।

(घ) वैक्रिय लब्धि वाले मनुष्य और तिर्यंच वैक्रिय रूप बनाते है, जब तक रूप-निर्माण का काम पूरा नहीं होता, तब तक वैक्रिय काययोग के साथ औदारिक का मिश्र होता है।

देव, नारक, वैक्रियलब्धिसम्पन्न मनुष्य, तिर्यंच एवं वायुकाय के वैक्रिय शरीर होता है। वैक्रिय शरीर की प्रवृत्ति वैक्रिय काययोग है। वैक्रिय मिश्र काययोग दो प्रकार से हो सकता है –

देवता और नारकी में उत्पन्न होने वाला जीव आहार ग्रहण कर तेता है, पर शरीर पर्याप्ति को पूरा नहीं करता है, तब तक कार्मण काययोग के साथ वैक्रिय का मिश्र होता है।

औदारिक शरीर वाले मनुष्य और तिर्यंच वैक्रियलब्धि का प्रयोग कर वैक्रिय रूप बनाते हैं। उस लब्धि को समेटते समय जब तक औदारिक शरीर पूरा नहीं बनता है, तब तक औदारिक काययोग के साथ वैक्रिय का मिश्र होता है।

आहारक शरीर योगजन्य लब्धि है। यह चतुर्दश पूर्वधर मुनियों के ही हो सकता है। आहारक शरीर पूरा बनकर जो प्रवृत्ति करता है, वह आहारक काययोग कहलाता है।

आहारक शरीर अपना काम सम्पन्न कर पुनः औदारिक शरीर में प्रवेश करता है। जब तक उसका काम पूरा नहीं होता है, तब तक औदारिक काययोग के साथ आहारक का मिश्र होता है। वह आहारक-मिश्रकाययोग कहलाता है।

तैजस शरीर का स्वतंत्र रूप से कोई प्रयोग नहीं होता, इसलिए तैजस काययोग नहीं होता। उसका समावेश कार्मण काययोग में हो जाता है।

एक भव से दूसरे भव में जाते समय जीव जब अनाहारक रहता है, उस समय होने वाले योग का नाम कार्मण काययोग है।

केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में होने वाला योग भी कार्मण काययोग कहलाता है।

इस प्रकार मन, वचन और काययोग के सब भेदो को मिलाने से योग के पन्द्रह भेद हो जाते हैं।

१४. उपयोग के दो प्रकार हैं

१. साकार उपयोग **२. अनाकार उपयोग**

साकार उपयोग के आठ प्रकार हैं

पांच ज्ञान –

१. मतिज्ञान
२. श्रुतज्ञान
३. अवधिज्ञान
४. मन:पर्यवज्ञान
५. केवलज्ञान

तीन अज्ञान –

१. मति अज्ञान **२. श्रुत अज्ञान** **३. विभंग अज्ञान**

अनाकार उपयोग के चार प्रकार हैं –

१. चक्षुदर्शन
२. अचक्षुदर्शन
३. अवधिदर्शन
४. केवलदर्शन

चौदहवें बोल में उपयोग के दो प्रकार बताए गए हैं – साकार उपयोग और अनाकार उपयोग। उपयोग शब्द जैन का पारिभाषिक शब्द है। इसका जिस अर्थ में जैन दर्शन में प्रयोग हुआ है, कहीं नहीं हुआ है। अन्यत्र इसका अर्थ किया जाता है – व्यवहार। उदाहरणार्थ-गर्मी में कैसे वस्त्रों का उपयोग लाभदायक होता है? इस स्थान का उपयोग किस रूप में हो सकता है।

जैन आगमों में उपयोग शब्द को प्रयोग जीव के लक्षण अर्थ में हुआ है- 'जीवो उवओगलक्खणो'। तत्त्वार्थ सूत्र में 'उपयोगोलक्षणम्' कहकर उक्त तथ्य को

स्वीकृति दी गयी है। अब प्रश्न उठता है कि उपयोग क्या है? 'जैन सिद्धान्त दीपिका' में इस प्रश्न को उत्तरित करते हुए लिखा गया है– 'चेतनाव्यापार: उपयोग:' ज्ञान और दर्शन-रूप चेतना का जो व्यापार है, प्रवृत्ति है, वह उपयोग है। उपयोग जीव का लक्षण है, इसलिए प्राणीमात्र में इसकी सत्ता है। सत्तागत समानता होने पर भी हर प्राणी के उपयोग की अपनी-अपनी सीमा है। अविकसित प्राणियों का उपयोग अव्यक्त होता है और विकसित प्राणियों का व्यक्त। इसकी अभिव्यक्ति में कर्मों का विलय या हल्कापन निमित्त बनता है। उपयोग की प्रबलता ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षय या क्षयोपशम-सापेक्ष है। जितना-जितना क्षय और क्षयोपशम, उतना-उतना प्रशस्त उपयोग। सर्वोत्कृष्ट ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग मनुष्य का होता है। उसकी अनावृत चेतना के दर्पण पर मूर्त-अमूर्त सभी द्रव्य स्पष्ट रूप से बिम्बित हो जाते हैं।

उपयोग दो प्रकार का होता है-साकार उपयोग और अनाकार उपयोग। इन्हें दूसरे शब्दों में भिन्नाकार प्रतीति और एकाकार प्रतीति अथवा ज्ञान और दर्शन भी कहा जाता है। ज्ञानोपयोग भिन्नाकार प्रतीति है। इसमें ज्ञेय पदार्थ की भिन्न-भिन्न आकृतियां बनकर उभर जाती हैं। दर्शन एकाकार प्रतीति है। इसमें ज्ञेय पदार्थ के अस्तित्व मात्र का बोध तो होता है, पर वह विशद् रूप में नहीं होता। उसका कोई आकार नहीं बन पाता, इसलिए उसे निराकार उपयोग कहा गया है।

पांच ज्ञान

साकार उपयोग के आठ भेद हैं। उनमें ज्ञान के पांच भेद हैं– मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान।

मतिज्ञान – पांच इन्द्रियों और मन के दारा चेतना का जो व्यापार होता है, वह मतिज्ञानोपयोग है।

श्रुतज्ञान-शब्द, संकेत, शास्त्र आदि माध्यमों से इन्द्रियों और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञानोपयोग है। अथवा यों कहना चाहिए कि मतिज्ञान ही प्रगाढ़ अवस्था को प्राप्त कर श्रुतज्ञान बन जाता है। मतिज्ञान वर्तमान में होता है और श्रुतज्ञान त्रैकालिक है। मतिज्ञान मूक है। वह केवल अपने लिए है। श्रुतज्ञान शब्दमय है। वह दूसरों को बोध देने में सक्षम है।

अवधिज्ञान – इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना चेतना के दर्पण पर मूर्त पदार्थों के जो बिम्ब उभरते हैं, उन्हें पकड़ने वाला उपयोग अवधिज्ञानोपयोग है।

यह ज्ञान अतीन्द्रिय है। फिर भी इसमें तीव्र एकाग्रता की अपेक्षा रहती है। इस दृष्टि से ही इसका निरुक्त किया गया है–'अवधानम् अवधि:' अवधान अर्थात् एकाग्रता। ध्यान की गहराइयों में उतरे बिनां अवधिज्ञानोपयोग हो ही नहीं सकता।

मन:पर्यवज्ञान–इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना सामने वाले व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं-आकृतियों को जानना मन:पर्यवज्ञानोपयोग है। यह विशिष्ट अवधिज्ञान से भी हो सकता है। पर मन:पर्यवज्ञान से जो बोध होता है, वह अधिक स्पष्ट और विशद होता है। जिस प्रकार एक फिजिशियन आंख, नाक, गला आदि शरीर के सभी अवयवों की जांच करता है, उसी प्रकार आंख, नाक, गला आदि का विशेष डॉक्टर भी करता है। किन्तु दोनों की जांच और चिकित्सा में अन्तर रहता है। एक ही कार्यक्षेत्र होने पर भी विशेषज्ञ के ज्ञान की तुलना में वह डॉक्टर नहीं आ सकता। इसी प्रकार मन:पर्यवज्ञान की तुलना में साधारण अवधिज्ञान नहीं आ सकता।

केवलज्ञान-इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना आत्मा के द्वारा मूर्त और अमूर्त सभी पदार्थों की सब पर्यायों का साक्षात्कार करना केवलज्ञानोपयोग है।

मतिज्ञान आदि चार ज्ञानों में कर्मों के क्षयोपशम में अन्तर रहने से उनके उपयोग में भी अन्तर रहता है। केवलज्ञान ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मों के सर्वथा क्षय से प्राप्त होता है, इसलिए किसी भी केवलज्ञानी की उपयोग चेतना में कोई अन्तर नहीं रह सकता।

तीन अज्ञान

पांच ज्ञान की भांति तीन अज्ञान भी ज्ञानोपयोग के ही भेद है। मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंग अज्ञान में ज्ञान चेतना का ही उपयोग होता है। पर मिथ्यादृष्टि व्यक्ति के योग से ये अज्ञान कहलाते है। यहां प्रश्न हो सकता है ज्ञान सम्यक्‌दृष्टि का हो या मिथ्यादृष्टि का, वह अज्ञान कैसे हो सकता है? सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी दोनों का ज्ञान क्षयोपशम भाव है, फिर भी पात्र-भेद से एक का ज्ञान, ज्ञान और दूसरे का ज्ञान, अज्ञान कहलाता है। यह बात व्यावहारिक दृष्टि से भी असंगत नहीं है। शराब की बोतल मे शरबत डाल दिया जाए तो साधारणतया उसमें शराब का ही आभास होता है। तत्त्वत: वह शराब नहीं है। पर संगति के प्रभाव से शरबत शराब बन जाता है। नीच के सम्पर्क से उत्तम व्यक्ति

के नीच बनने की बात नीतिसम्मत है। इसी प्रकार मिथ्यात्वी के संयोग से ज्ञान भी अज्ञान बन जाता है। अज्ञान के भेदों को परिभाषित करने की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि मूलतः तो वे ज्ञान के ही भेद है। निष्कर्श की भाषा में मिथ्यात्वी का इन्द्रियजन्य ज्ञान मति अज्ञान, उसका शास्त्रीय ज्ञान श्रुत अज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान विभंग अज्ञान कहलाता है।

मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान विशिष्ट साधकों को ही प्राप्त होते हैं। उन्हें मिथ्यादृष्टि व्यक्ति कभी नहीं पा सकता। इसलिए वे अज्ञान नहीं होते।

चार दर्शन

अनाकार उपयोग के चार भेद है – चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। ज्ञान और दर्शन – दोनों ही अवबोधक है फिर भी ज्ञान में स्थायित्व है और दर्शन तात्कालिक है। ज्ञान त्रैकालिक है और दर्शन केवल वर्तमान में होता है। इसलिए इनमें भेद किया गया है।

चक्षुदर्शन – आंखों से जो सामान्य अवबोध होता है, वह चक्षुदर्शन है।

अचक्षुदर्शन – आंखों के अतिरिक्त चार इन्द्रियों और मन से जो सामान्यः अवबोध होता है वह अचक्षुदर्शन है।

यहां प्रश्न उठता है कि चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन के स्थान पर इन्द्रियदर्शन कहने से वांछित अर्थ निकल सकता था, फिर ये दो भेद क्यों किए? इसका सीधा-सा उत्तर यह है कि शास्त्रकारों न लोक दृष्टि को प्रमुखता देकर यह वर्गीकरण किया है। लोकमत में आंख का अतिरिक्त मूल्य है। सामान्यतः लोगे कहते है – जो हमने आखों से देखा है, वह गलत कैसे हो सकता है।

चक्षु की भांति अन्य इन्द्रियों से भी देखा जा सकता है, जैसे – किसी व्यक्ति न अंधेरे में आम खाया। उस समय केवल रस का ही बोध नहीं होता, रूप का भी बोध हो जाता है। इस दृष्टि से यह तथ्य निर्विवाद है कि चक्षु के अतिरिक्त इन्द्रियों और मन से भी देखा जा सकता है। इसलिए अचक्षुदर्शन को भी स्वतंत्र स्थान मिल गया। अवधिदर्शन में इन्द्रियों और मन के बिना ही मूर्त द्रव्यों का साक्षात्कार होता है तथा केवलदर्शन में अनावृत आत्मा के द्वारा रूपवान् और अरूप सभी द्रव्यों की सब पर्यायों का साक्षात्कार हो जाता है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान पांच हैं, तब दर्शन चार ही क्यों? मन:पर्यवज्ञान है तो मन:पर्यवदर्शन क्यों नहीं? प्रश्न अस्वाभाविक नहीं है। इस बात को पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि मन:पर्यवज्ञान एक विशेषज्ञ का त्रम करता है। वह मन की विविध आकृतियों को पकड़ता है। जो आकार-अवस्था को ही जानता है, वह अनाकार को कैसे जानेगा? दर्शन का विशय अनाकार उपयोग है, इसलिए मन:पर्यवज्ञान की भांति मन:पर्यव दर्शन नहीं हो सकता।

१५. आत्मा के आठ प्रकार हैं

१. द्रव्य **५. ज्ञान**
२. कषाय **६. दर्शन**
३. योग **७. चारित्र**
४. उपयोग **८. वीर्य**

जीव, जीव के गुण और जीव की क्रियाएं—इन सबको आत्मा कहा जाता है। आत्मा एक चेतनावान् पदार्थ है। चेतना उसका धर्म है और उपयोग उसका लक्षण है। चेतना सदा एक रूप में नहीं रहती। उसका रूपांतरण होता रहता है। जैन दर्शन के अनुसार इस रूपांतरण का नाम है पर्यायपरिवर्तन। संसार को कोई भी 'द्रव्य' गुण और पर्याय के बिना नहीं होता। आत्मा भी अपने गुण और पर्यायों का समवाय है। गुण सदा साथ रहने वाला धर्म है और पर्याय बदलते रहने वाला धर्म है। गुण और पर्याय केवल आत्मा में ही नहीं जड़ पदार्थ में भी होते है। चेतन और जड़ पदार्थ का समन्वित रूप यह सृष्टि है। इनके अतिरिक्त इस संसार में तीसरा कोई तत्त्व नहीं मिलता।

आत्मा एक द्रव्य है। फिर भी पर्याय-भेद के आधार पर वह अनेक रूपों में दिखाई देती है। पर्यायों के विस्तार में न जाएं तो मूलत: उसके दो भेद होते हैं—द्रव्य आत्मा और भाव आत्मा। द्रव्य आत्मा यानी चेतनामय असंख्य अविभाज्य अवयवों का समूह आत्म-द्रव्य। इसमें गुण और पर्याय है, पर वे विवक्षित नहीं है। केवल शुद्ध आत्म द्रव्य की विवक्षा अन्य पर्यायों की-सत्ता होने पर भी उन्हें गौण कर देती है। आत्मा एक त्रैकालिक तत्त्व है। अतीत में इसका अस्तित्व था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। कोई भी काल या परिस्थिति इस आत्म-द्रव्य को अनात्म द्रव्य नहीं बना सकती।

शाश्वत और अविभाज्य तत्त्व होने पर भी यह परिवर्तनशील है। इसकी पर्याय (अवस्था) बदलती रहती है। प्रतिक्षण इसकी अवस्था में बदलाव आता है। वह इतना सूक्ष्म होता है कि साधारण व्यक्ति को गम्य नहीं हो सकता। किन्तु स्थूल परिवर्तनों के आधार पर आत्मा की अनेक अवस्थाएं निर्विवाद रूप से प्रमाणित हैं। द्रव्य और भाव दोनों विवक्षाओं के आधार पर पन्द्रह बोल में आत्मा के आट प्रकार बताए गये हैं।

द्रव्य-आत्मा शुद्ध चेतना है। क्रोध, मान, माया, लोभ से रंजित होने पर वह कषाय आत्मा हो जाती है। आत्मा की जितनी प्रवृत्ति है, वह योग आत्मा के नाम से पहचानी जाती है। चेतना जब व्याप्त होती है, वह उपयोग आत्मा है। ज्ञानात्मक और दर्शनातमक चेतना ज्ञान और दर्शन आत्मा है। आत्मा की विशिष्ट संयम मूलक अवस्था चारित्र आत्मा है। आत्मा की शक्ति वीर्य आत्मा के रूप में प्रसिद्ध है।

ये आठ आत्माएं भी सापेक्ष दृष्टि से ही बतायी गयी है। क्योंकि आत्मा का पर्यायांतरण केवल इन्हीं आठ बिंदुओं में सीमित नहीं है। आत्मा की जितनी पर्यायें है, उतनी ही आत्माएं हो सकती है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि आत्मा अनंत है। प्रश्न हो सकता है कि उन आत्माओं की पहचान किस नाम से होगी? जो अवस्था, वही पहचान और वही नाम। वैसे सैद्धांतिक भाषा में आठ आत्मा के अतिरिक्त आत्मा की सभी अवस्थाओं को अन्य आत्मा (अनेरी आत्मा) कहा जाता है।

आठ आत्माओं के इस वर्गीकरण के साथ अन्य आत्मा की सूचना से आत्मा के अनंत रूपों की संभावना सत्य में बदल जाती है। संसार में रहने वाली कुछ आत्माएं बहुत अच्छी है और कुछ आत्माएं अच्छी नहीं है। आत्मा के अच्छी और बुरी होने का मूलभूत आधार है कर्म-वर्गणा। संसार की सब आत्माओं को कर्मों के उदय, क्षयोपशम और क्षय के आधार पर तीन वर्गों में बांटा जा सकता है— बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा और अंतरात्मा सैद्धांतिक शब्द है। व्यवहार में इनके लिए दुरात्मा और महात्मा शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

दुरात्मा औदयिक भाव है। महात्मा क्षायोपशमिक भाव है और परमात्मा क्षायिक भाव है। व्यक्ति जितने बुरे काम करता है, उसके पीछे कर्मोदय का हाथ रहता ही है। यह उदय की श्रृंखला जितनी मजबूत होती है, व्यक्ति की आत्मा उतनी ही आवृत और विकृत रहती है। क्षायोपशमिक भाव में कर्मों की बेड़ियां सर्वथा

टूटती नहीं, पर उनका बंधन उतना प्रगाढ़ नहीं रहता। उस स्थिति में व्यक्ति का चिंतन और व्यवहार बदलता है, वह दुरात्मा की भूमिका से ऊपर उठकर महात्मा बन जाता है। क्षायिक भाव में कर्मों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। आत्मा विकार-रहित होकर सब आवरणों से मुक्त हो जाती है। उस समय आत्मा का मूल स्वरूप प्रकट हो जाता है। स्वरूपोपलब्धि ही परमात्म-भाव है।

आत्मा मूलत: एक ही है। उसकी ये तीन अवस्थाएं सापेक्ष दृष्टि से की गई है। धर्म की साधना व्यक्ति को दुरात्मा से परमात्मा बनाने में सक्षम है।

१६. गुणस्थान के चौदह प्रकार हैं

१. मिथ्यादृष्टि	**८. निवृत्तिबादर**
२. सास्वादनसम्यगदृष्टि	**९. अनिवृत्तिबादर**
३. मिश्रदृष्टि	**१०. सूक्ष्मसम्पराय**
४. अविरतिसम्यगदृष्टि	**११. उपशान्तमोह**
५. देशविरति	**१२. क्षीणमोह**
६. प्रमत्तसंयत	**१३. सयोगीकेवली**
७. अप्रमत्तसंयत	**१४. अयोगीकेवली**

कर्म के विलय की तरतमता के आधार पर जीव की चौदह श्रेणियां स्थापित की गयी हैं। वे ही श्रेणियां चौदह गुणस्थान या जीवस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं। संसार के समस्त जीव उन चौदह श्रेणियों में विभाजित है। उनमें सबसे पहली श्रेणी या गुणस्थान है मिथ्यादृष्टि गुणस्थान।

प्रथम गुणस्थान में मोह कर्म का सबसे कम क्षयोपशम होता है। जो स्वल्पतम क्षयोपशम है, उसको मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। अथवा मिथ्यात्वी व्यक्ति की जितनी सही दृष्टि है, वह मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहलाता है।

यहां प्रश्न यह उठता है कि क्या मिथ्यात्वी की दृष्टि भी सही हो सकती है? जैन सिद्धांत के अनुसार संसार का कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसमें आंशिक रूप से सही दृष्टि न हो। व्यक्त चेतना वाले जीवों मे उस अंश का साक्षात् देखा जा सकता है और अव्यक्त चेतना वाले जीवों मे वह अव्यक्त रहता है। फिर भी इस वैशिष्ट्य को नकारना संभव नहीं है। क्योंकि चेतन और अचेतन की भिन्नता का न्यूनतम मानक यही है।

एक मिथ्यात्वी व्यक्ति आत्मा, परमात्मा, मोक्ष आदि के संबंध में कुछ नहीं जानता, फिर भी वह इतना जरूर मानता है कि ब्रह्मचर्य अच्छा है, तपस्या अच्छी है, संयम अच्छा है। उसकी यह सही समझ ही उसका मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।

यहां दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि किसी व्यक्ति के सही दृष्टिकोण को मिथ्या क्यों कहा जाता है? सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी की जिस दृष्टि में कोई अन्तर न हो, उसे एक ही नाम क्यों नहीं दिया गया?

मूल्यांकन की कई कसोटियां होती है। प्रस्तुत सन्दर्भ में व्यक्ति का मूल्यांकन पात्र भेद से किया गया है जिस प्रकार हरे या पीले रंग की बोतल में डाला हुआ साफ पानी भी हरा या पीला दिखाई देता है इसी प्रकार मिथ्यात्वी की सम्यक्दृष्टि को मिथ्यात्व के संसर्ग से मिथ्या दृष्टि कहा गया है।

इसी वर्ग के चौदहवें बोल में मिथ्यात्वी के ज्ञान को अज्ञान बतलाया गया है। उसी तर्क के आधार पर गुणस्थानों की चर्चा में मिथ्यात्वी व्यक्ति की सही दृष्टि, जो कि क्षयोपशम भाव है, को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान माना गया है।

दूसरी श्रेणी में कुछ अधिक क्षयोपशम होता है। यह श्रेणी सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर अग्रसर प्राणी को उपलब्ध होती है। जैसे कोई पत्ता वृक्ष से गिरता है और धरती का स्पर्श नहीं करता। सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर संक्रमण काल में यह स्थिति रहती है। इस श्रेणी का नाम है सास्वादनसम्यक्दृष्टि गुणस्थान।

तीसरी श्रेणी मिश्रदृष्टि गुणस्थान है। यह मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के मिश्रण यानी संदिग्ध अवस्था की प्रतीक है। इस श्रेणी में रहने वाला व्यक्ति न इधर का रहता है न उधर का। किसी एक तत्त्व में संदेह रहने पर भी यह स्थिति प्राप्त हो जाती है। यह स्थितिं ऊर्ध्वगमन की है। तीसरे गुणस्थान से दूसरे मे भी आया जा सकता है। पर यहां विवक्षा ऊर्ध्वगमन की है। इसी दृष्टि से इसका स्थान तीसरा रखा गया है। इसे पार करके ही व्यक्ति सम्यक्त्वी बन सकता है।

चौथी श्रेणी का नाम है—अविरतिसम्यक्दृष्टि। इसमें सम्यक्त्व का अवतरण पूर्ण रूप से हो जाता है। कितु व्रत ग्रहण की क्षमता विकसित नहीं होती। इसमें अनन्तानुबंधी चतुष्क का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होता है, पर अप्रत्याख्यानावरण का उदय रहता है। इसलिए प्रत्याख्यान नहीं हो सकता।

पांचवीं श्रेणी देशविरति गृणस्थान है। इसमें अप्रत्याख्यानावरण का क्षयोपशम होता है, इसलिए अंशत: व्रतग्रहण की क्षमता प्राप्त हो जाती है।

छठी श्रेणी का नाम है – प्रमत्तसंयत गुणस्थान। इसमें प्रत्याख्यानवरण का क्षयोपशम हो जाने से संपूर्ण रूप से व्रती जीवन का क्रम शुरू हो जाता है। इससे आगे की सब श्रेणियों में व्रत या संयम तो रहता ही है, उसके साथ-साथ अन्य गुणों का विकास होता जाता है।

सातवीं श्रेणी का नाम है अप्रमत्त संयत गुणस्थान। इसमें प्रमाद छूट जाता है। हर क्षण जागरूकता में व्यतीत होता है। यह स्थिति बहुत लम्बे समय तक नहीं रहती। इसलिए ऊर्ध्वारोहण करने वालों को छोड़कर छठी-सातवीं श्रेणी का क्रम बदलता रहता है।

आठवीं श्रेणी का नाम है – निवृत्तिबादर गुणस्थान। इसमें बादर अर्थात् स्थूल कषाय की निवृत्ति हो जाती है। अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कशाय का उपशम या क्षय हो जाने के कारण निवृत्ति को प्रधान मानकर इसे निवृत्तिबादर कहा जाता है। इस गुणस्थान में भी कुछ स्थूल कषाय बचा रहता है। पर उसकी विवक्षा नहीं की जाती। इस श्रेणी का दूसरा नाम अपूर्वकरण भी है।

नौवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय की अनिवृत्ति रहती है। उसी की प्रधानता से इस गुणस्थान को अनिवृत्तिबादर गुणस्थान कहा जाता है। अनिवृत्ति का यह क्रम नौवें गुणस्थान के प्रारम्भ में रहता है। उसके अन्तिम समय में क्रोध, मान और माया की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। केवल लोभ अवशेष रहता है।

दसवीं श्रेणी में सूक्ष्म कषाय बाकी रहता है। कषाय का भी एक अंश केवल सूक्ष्म लोभ। इस श्रेणी का नाम है सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान।

ग्यारहवी श्रेणी है – उपशान्त मोह। इसमें मोह-कर्म का सर्वथा उपशम हो जाता है। बारहवीं श्रेणी में मोह सर्वथा क्षीण हो जाता है।

तेरहवीं श्रेणी में केवलज्ञान उपलब्ध होता है। इसका नाम है – सयोगी केवली। इसमें केवली के मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति चालू रहती है। चौदहवीं श्रेणी में पहुंचते ही प्रवृत्ति मात्र का निरोध हो जाता है। इस श्रेणी का नाम है – 'अयोगी केवली'। इसके बाद जीव मुक्त हो जाता है। ये श्रेणियां आत्मविषुद्धि की क्रमिक भूमिकाएं है।

१७. भाव (जीव का स्वरूप) के पांच प्रकार हैं

१. औदयिक   **४. क्षायोपशमिक**

२. औपशमिक   **५. पारिणामिक**

३. क्षायिक

सतरहवें बोल में भाव के पांच प्रकार बतलाये गये हैं। कर्मों के संयोग या वियोग से होने वाली जीव की अवस्था विशेष का नाम भाव है। इसे जीव का स्वरूप भी कहा जाता है। जैन-दर्शन के अनुसार संसारी जीव अपने शुद्ध स्वरूप में उपलब्ध नहीं होता। शुद्ध चैतन्य जीव का मूलभूत स्वरूप है, किन्तु वह अनादिकाल से कर्ममल से लिप्त है। जब तक वह इस कर्ममल को धोकर उज्ज्वल नहीं बन जाता, तब तक कर्मों के बंध, उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि से होने वाली विविध परिणतियों मे परिणत होता रहता है।

औदयिक भाव

संसारी जीव प्रवृत्ति करता है। जहां प्रवृत्ति है, वहां बंधन है। बंधन आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का होता है। जो पुद्गल बंधते हैं, वे कुछ समय तक आत्मा के साथ घुले-मिले रहते हैं। स्थिति का परिपाक होने पर या उदीरणा के द्वारा बंधे हुए कर्म उदय में आते हैं। कर्मों के उदय से होने वाली आत्मा की अवस्था औदयिक भाव है। इसे उदयनिष्पन्न भाव भी कहा जाता है। उदय आठों कर्मों का होता है।

औपशमिक भाव

मोहकर्म के उपशम से होने वाली आत्मा की अवस्था औपशमिक या उपशम निष्पन्न भाव है। उपशम एक मोहकर्म का ही होता है। मोहकर्म आत्मा की विकृति का प्रमुख हेतु है। जीव को सबसे अधिक पुरुषार्थ इसी के साथ लोहा लेने में करना होता है। उपशम काल में मोहकर्म सर्वथा प्रभावहीन हो जाता है, किंतु यह स्थिति अड़तालीस मिनट के भीतर-भीतर बदल जाती है। इसलिए जीव को इसके साथ बार-बार संघर्ष करना पड़ता है।

क्षायिक भाव

कर्मों के क्षय से होने वाली आत्मा की अवस्था क्षायिक या क्षय-निष्पन्न भाव है। सब कर्मों का क्षय होने के बाद पुन: किसी भी कर्म का बंधन नहीं होता।

कर्म-मुक्त होने के बाद जीव के संसार-भ्रमण का मार्ग बंद हो जाता है। वह सिद्ध, बुद्ध, परमात्मा बन जाता है।

क्षयोपशमिक भाव

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय — इन चार घात्य कर्मों के हल्केपन से आत्मा की जो अवस्था होती है, वह क्षायोपशमिक या क्षयोपशम-निष्पन्न भाव कहलाता है। क्षयोपशम से निष्पन्न अवस्थाओं की अनन्त भूमिकाएं हो सकती है। पुरुषार्थ जितना प्रबल होता है, कर्म उतने ही अधिक हल्के होते जाते है। वह हल्कापन ही क्षायोपशमिक भाव है।

औपशमिक भाव में मोह कर्म का सर्वथा अनुदय रहता है। क्षायोपशमिक भाव में घात्य कर्मों का उदय चालू रहता है — वहां प्रतिक्षण कर्म का उदय, वेदन और क्षय होता रहता है। इस सहज कर्म क्षय के साथ आगामी काल में उदय होने वाली कर्म प्रकृतियों के विपाकोदय का अभाव रूप उपशम होता है, इसलिए इसे क्षायोपशमिक भाव कहा जाता है।

पारिणामिक भाव

कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के द्वारा जीव की जो-जो परिणतियां होती है, जिन-जिन अवस्थाओं में परिणति होती है, वह पारिणामिक भाव कहलाता है।

१८. लेश्या के छह प्रकार हैं

१. कृष्ण	**४. तेजः**
२. नील	**५. पद्म**
३. कापोत	**६. शुक्ल**

लेश्या का अर्थ है — तैजस शरीर के साथ काम करने वाली चेतना अथवा भावधारा। अठारहवें बोल में उसके छह प्रकार बतलाये गये हैं — कृष्ण, नील, कापोत, तेजः, पद्म और शुक्ल।

इनमें प्रथम तीन लेश्याएं अप्रशस्त हैं और शेष तीन लेश्याएं प्रशस्त हैं। प्रशस्त लेश्याएं प्रकाशमय, स्निग्ध और गर्म है। अप्रशस्त लेश्याएं अंधकारमय, रूक्ष और ठंडी है।

अशुभ लेश्या के स्पन्दनों से व्यक्ति के मन में हिंसा, झूठ, चोरी, ईर्ष्या, शोक, घृणा और भय के भाव जागृत होते है।

शुभ लेश्या के स्पन्दनों से अभय, मैत्री, शांति, जितेन्द्रियता, क्षमा आदि पवित्र भावों का विकास होता है।

छहों लेश्याओं के छह रंग है – काला, नीला, कापोती, लाल, पीला और सफेद। इन रंगों से प्रभावित भावधारा शुभ और अशुभ रूप में परिणत होती है। भाव और विचार – ये दो अलग-अलग तत्त्व हैं। भाव अन्तरंग तत्त्व है। इसके निर्माण में ग्रन्थितंत्र का सहयोग रहता है। विचार का संबंध कर्म से है। इसका निर्माण नाड़ीतंत्र से होता है।

भावधारा शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की होती है। इसके निर्माण में रंगों का बहुत बड़ा हाथ रहता है। लाल, पीला और सफेद रंग भावविशुद्धि का उपाय है। विशुद्ध भावधारा से शारीरिक और मानसिक बीमारी दूर होती है एवं मूर्च्छा टूटती है।

जैन दर्शन में लेश्या का बहुत सूक्ष्म विवेचन है। इसे स्थूल रूप से समझने के लिए एक निदर्शन को काम में लिया जाता है – छह मित्र एक बगीचे में गये। यहां उन्होंने एक पके हुए जामुन का वृक्ष देखा। पहला मित्र बोला – चलो इस वृक्ष को उखाड़ फेंके और पेट भर जामुन खाएं दूसरे व्यक्ति ने कहा – 'वृक्ष को उखाड़ने से क्या लाभ? केवल बड़ी शाखाओं को काटने से ही हमारा काम हो जाएगा।' तीसरे ने कहा – 'यह भी उचित नहीं, हमारा काम तो छोटी शाखाओं को काटने से ही हो जाएगा।' चौथे मित्र ने कहा – 'टहनियों को तोड़ने से क्या लाभ? केवल फल के गुच्छों को तोड़ना ही काफी है।' पांचवां मित्र बोला – 'हमें गुच्छों से क्या प्रयोजन? केवल फल ही तोड़कर ले लेना अच्छा है।' छठा मित्र गम्भीर होकर बोला – 'आप सब क्या सोच रहे हैं? हमें जितने फल चाहिए, उतने तो नीचे गिरे हुए ही है, फिर व्यर्थ में इतने फल तोड़ने से क्या लाभ?

इस दृष्टान्त से लेश्याओं का स्वरूप स्पष्टता से समझ में आ जाता है। पहले व्यक्ति के परिणाम कृष्ण लेश्या के है और क्रमशः छठे व्यक्ति के परिणाम शुक्ल लेश्या के है। यह निदर्शन केवल परिणामों की तरतमता का सूचक है।

१९. मिथ्यात्व के पांच प्रकार हैं

१. आभिग्रहिक **४. अनाभोगिक**
२. अनाभिग्रहिक **५. सांशयिक**
३. आभिनिवेशिक

उन्नीसवें बोल में मिथ्यात्व के पांच प्रकार बतलाए गए हैं। कोई वस्तु या तत्त्व जिस रूप में है, उसे उसी रूप में स्वीकार न कर भिन्न रूप में समझना और समझाना मिथ्यात्व है। मूलत: मिथ्यात्व के दो ही भेद है—आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक। शेष तीन भेद इन्हीं का विस्तार मात्र है।

१, आभिग्रहिक मिथ्यात्व

सही तत्त्व को समझ लेने के बाद भी गलत तत्त्व को पकड़कर रखना आभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है। एक प्रकार से यह रूढ़ता, परम्परावादिता या आग्रहशीलता की निश्पत्ति है। कोई आदमी तलैया के सूख जाने पर भी उसका कीचड़ खाता है। दूसरा व्यक्ति उससे पूछता है कि आप पानी वाले तालाब को छोडकर यहां क्यों आए? वह आदमी उत्तर देता है—यह तलैया मेरे पिता की है। पानी हो या कीचड़, अपनी चीज तो अपनी ही होती है।

इस प्रकार किसी तत्त्व की सही जानकारी मिल जाने पर भी अपने गृहीत आग्रह को नहीं छोड़ने वाला व्यक्ति, इस प्रथम कोटि के मिथ्यात्व का शिकार हो जाता है।

२. अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व

किसी प्रपंच में कौन जाएगा? इस बुद्धि से अपने पूर्व गृहीत विचार या तत्त्व को नहीं छोड़ना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है। इसमें कोई पूर्वाग्रह या पकड़ नहीं होती, पर किसी तत्त्व को गहराई से समझने का मनोभाव पैदा ही नहीं होता, जैसे—जैन संस्कार विधि अच्छी तो है, पर जो कुछ सैकड़ों-हजारों वर्षों से चला आ रहा है, उसे छोड़कर नया झमेला क्यों खड़ा करें? जो काम करना है, ऐसे भी हो सकता है और वैसे भी हो सकता है। इस स्थिति में अपनी पुरानी परम्परा को क्यों तोड़ें? इस प्रकार तटस्थ भाव से गलत तत्त्व को पकड़कर रखने वाला व्यक्ति दूसरी कोटि के मिथ्यात्व से आक्रान्त रहता है।

३. आभिनिवेशिक मिथ्यात्व

तात्कालिक आग्रह के कारण किसी तत्त्व को असम्यक् रूप से पकड़ कर रखना आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है। वैसे अभिनिवेश और आग्रह शब्द एक ही अर्थ के वाचक है, फिर भी इनके आधार पर मिथ्यात्व के दो भिन्न प्रकार किए गए है, इससे यह प्रतीत होता है कि ये दोनों शब्द पर्यायवाचक नहीं है। आग्रह दीर्घकालिक होता है और अभिनिवेश अल्पकालिक। तात्कालिक आवेश में आकर अपनी गलत बात को भी सही बताने का प्रयत्न करने वाला व्यक्ति तीसरी कोटि के मिथ्यात्व से प्रभावित होता है।

४. अनाभोगिक मिथ्यात्व

ज्ञान के अभाव में गलत तत्व को पकड़कर बैठना अनाभोगिक मिथ्यात्व है। इसमें न अच्छे-बुरे की पहचान होती है और न परम्परा का बोध ही होता है। धर्म, अधर्म आदि के बारे में भी इसकी अवधारणा स्पष्ट नहीं होती। किसी ने कोई बात कह दी। स्वयं की ज्ञान चेतना अविकसित होने के कारण उस पर किसी प्रकार का विचार किए बिना उस बात को एकान्ततः सत्य के रूप में मान लेने वाला व्यक्ति चौथी कोटि के मिथ्यात्व से ग्रस्त रहता है।

५. सांशयिक मिथ्यात्व

संदेह की स्थिति में किसी गलत तत्त्व को सही मान लेना अथवा यह भी टीक हो सकता है, वह भी ठीक हो सकता है – इस प्रकार की दोलायमान मन:स्थिति सांशयिक मिथ्या कहलाता है। इसके कारण वैचारिक अस्थिरता रहती है, इसलिए आस्था किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित नहीं हो सकती।

मिथ्यात्व के ये पांचों प्रकार यथार्थ पर आवरण डालकर व्यक्ति को गुमराह बनाने वाले है। इनके प्रमुख हेतु हैं – आग्रह और अज्ञान। इन दोनों हेतुओं के मिटने से ही मिथ्यात्वजनित दोष से बचा जा सकता है।

२०. व्यावहारिक मिथ्यात्व के वस प्रकार हैं

१. अधर्म में धर्म संज्ञा
२. धर्म में अधर्म संज्ञा
३. अमार्ग में मार्ग संज्ञा
६. जीव में अजीव संज्ञा
७. असाधु में साधु संज्ञा
८. साधु में असाधु संज्ञा

४. मार्ग में अमार्ग संज्ञा	**९. अमुक्त में मुक्त संज्ञा**
५. अजीव में जीव संज्ञा	**१०. मुक्त में अमुक्त संज्ञा**

बीसवें बोल में व्यावहारिक मिथ्यात्व के दस प्रकार बतलाए गए हैं। निश्चय में तो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शनमोहनीय त्रिक-मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से होने वाली विपरीत श्रद्धारूप आत्म-परिणति मिथ्यात्व है। पर इस बात को कोई ज्ञानी व्यक्ति ही समझ सकता है। साधारण व्यक्ति निश्चय की भूमिका पर खड़ा होकर तत्त्व-बोध नहीं कर सकता। इसलिए यह अपेक्षा अनुभव की गई कि व्यवहार की भूमिका से भी मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की पहचान करवाई जाए। इस बोल में इसी अपेक्षा को ध्यान में रखकर मिथ्यात्व को समझाया गया है।

इन दस प्रकारों में मूल प्रकार पांच ही हैं—धर्म, मार्ग, जीव, साधु और मुक्त। शेष पांच इन्हीं के प्रतिपक्षी है। जहां उनकी स्वतंत्र रूप से विवक्षा की जाती है, वहां दस प्रकार बतला दिए जाते है। प्रश्न हो सकता है कि क्या कोई धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मान सकता है? जहां दृष्ट भ्रम हो, वहां कुछ भी माना जा सकता है और कुछ भी समझा जा सकता है। यहां मिथ्यात्व के हर प्रकार को विस्तार के साथ समझाया जा रहा है—

१. अधर्म में धर्म संज्ञा

जिन प्रवचन के अनुसार हिंसा अधर्म है और अहिंसा धर्म है। कुछ लोग छह जीवनिकाय की हिंसा करते हैं और उसे धर्म मानते है। उन लोगों का तर्क यह है कि जो लोग धर्म की दृष्टि से हिंसा करते है, क्या वे सब मूर्ख हैं? हिंसा के बिना संसार में किसका काम चलता है। जो जीवन के लिए जरूरी है, वह धर्म ही तो है।

२. धर्म में अधर्म संज्ञा

उपवास करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, खाद्यसंयम करना आदि जितनी भी संयम और तपमूलक प्रवृत्तियां है, उन्हें रूढ़ि मानकर अधर्म में परिगणित कर देना।

३. अमार्ग में मार्ग संज्ञा

जो रास्ता मोक्ष की ओर ले जाने वाला नहीं है, उसे मोक्षमार्ग मान लेना,. जैसे-नरबलि, पशुबलि आदि से स्वर्ग और मोक्ष की कल्पना करना।

४, मार्ग में अमार्ग संज्ञा

ज्ञान, दर्शन और चारित्र – ये तीनों मोक्ष के मार्ग है। इन तीनों की समन्वित आराधना से ही मोक्ष हो सकता है। इनको उन्मार्ग मानकर इनसे दूर रहने का प्रयत्न करना।

५, अजीव में जीव संज्ञा

जीव जैसी क्रिया – हलन-चलन, प्रकम्पन आदि देखकर परमाणुपिंड को जीव मान लेना। जैनदर्शन के अनुसार जीव की भांति अजीव में भी प्रकम्पन हो सकता है। इसलिए वह उसकी पहचान का आधार नहीं बन सकता।

६. जीव में अजीव संज्ञा

पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि जीवों का जीवत्व समझ में न आने पर उन्हें अजीव स्वीकार कर लेना।

७. असाधु में साधु संज्ञा

अनुशासन और मर्यादा का खुला भंग करने पर भी केवल बाह्य आचार के आधार पर अथवा क्रियाकांडों और अज्ञान-कष्टों के आधार पर उस व्यक्ति को साधु समझ लेना, जिसमें साधुत्व का कोई भी गुण न हो।

८. साधु में असाधु संज्ञा

साधनाशील साधु को भी अपने अज्ञान या पूर्वाग्रह के कारण असाधु समझ बैठना।

९. अमुक्त में मुक्त संज्ञा

संसार में जितने भी अवतार होते है, वे किसी जन्म में मुक्त हो जाते है। धर्म का ह्रास देखकर वे पुनः शरीर धारण करते है। इस मान्यता के आधार पर उन महापुरुषों को मुक्त मान लेना, जो अभी संसार में भ्रमण कर रहे हैं।

१०. मुक्त में अमुक्त संज्ञा

ईश्वर कर्तृत्व के सिद्धान्त में जिनका विश्वास है, वे संसार की प्रवृत्तियों से निरपेक्ष, आत्म-स्वरूप में अवस्थित मुक्त आत्माओं को ईश्वर के रूप में स्वीकार नहीं करते। इस धारणा के अनुसार ईश्वर के अतिरिक्त सभी जीव संसार में रहते है, इसलिए वे मुक्त नहीं हो सकते।

उपर्युक्त दसों प्रकार ऐसे हैं, जो वस्तु या तत्त्व के सम्यग् अवबोध में बाधक है, इसलिए इन्हें। मिथ्यात्व के प्रकारों में अन्तर्गर्भित किया गया है।

२१. कषाय के सोलह प्रकार हैं

अनन्तानुबन्धी – क्रोध, मान, माया, लोभ
अप्रत्यख्यान – क्रोध, मान, माया, लोभ
प्रत्याख्यान – क्रोध, मान, माया, लोभ
संज्वलन – क्रोध, मान, माया लोभ

कषाय आत्मा की एक अवस्था है। उसके मुख्यतः चार भेद हैं – क्रोध, मान, माया और लोभ। क्रोध आदि आत्मा के स्वभाव नहीं, विभाव है। ये विजातीय तत्त्व हैं। फिर भी आत्मा से संश्लिष्ट होकर उसके अभिन्न अंग बन गए हैं। ये आत्मा के साथ रहने पर भी उसके अपने नहीं है। इसलिए विशेष प्रयत्न के द्वारा इन्हें अलग किया जा सकता है। पर यह स्थिति विशिष्ट साधना से ही संभव हो सकती है। आत्मविकास की चौदह भूमिकाओं में से दस भूमिकाएं पार कर लेने के बाद इस कषाय-चतुष्टयी से छुटकारा मिलता है। उससे पहले कमबेसी रूप में हर आत्मा कशाय से भावित रहती है।

कशाय की तीव्रता और मंदता के आधार पर क्रोध, मान, माया और लोभ के चार-चार भेद किए गए हैं। सब भेदं को मिलाने से उनकी संख्या सोलह हो जाती है।

प्रथम भेद है अनन्तानुबन्धी। अनन्त अनुबन्ध-शृंखलाएं जिस कषाय के साथ जुड़ी रहती हैं, वह अनन्तानुबन्धी कषाय होता है। इन अनुबन्धों का कोई ओर-छोर नहीं होता। ये आगे-से-आगे बढ़ते जाते है। अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से क्रोध, मान, माया और लोभ बहुत गहरे हो जाते है।

दूसरा भेद है – अप्रत्याख्यान। इसके अनुबन्ध कुछ शिथिल होते हैं। प्रत्याख्यान-चतुष्क इससे भी काफी हल्का हो जाता है और संज्वलन-चतुष्क बिल्कुल हल्का रहता है। इसमें कषाय का अस्तित्व है, पर उसकी सत्ता डावांडोल रहती है। वह अधिक समय तक टिक नहीं सकता।

कषाय की तीव्रता और मंदता के आधार पर किया गया यह वर्गीकरण व्यवहार में भी स्पष्ट दिखाई देता है। एक व्यक्ति का क्रोध इतना तीव्र होता है कि वह जन्म-जन्मान्तर तक उसके साथ रहता है। एक व्यक्ति का क्रोध इतना नाजुक होता है कि इस क्षण क्रोध आया, दूसरे क्षण नामशेष हो गया। यह स्थिति समता की विशेष साधना से प्राप्त की जा सकती है। कषाय-चतुष्क के चारों प्रकारों का अस्तित्व पूर्ण रूप से जब समाप्त होता है, तब साधक वीतराग बन जाता है और उसके बाद वह देह को त्याग कर सिद्ध हो जाता है।

२२. कषाय के सोलह उवाहरण हैं

अनन्तानुबन्धी	**क्रोध – पत्थर की रेखा के समान**
	मान – पत्थर के स्तंभ के समान
	माया – बांस की जड़ के समान
	लोभ – कृमि-रेशम के रंग के समान
अप्रत्याख्यान	**क्रोध – भूमि की रेखा के समान**
	मान – अस्थि के स्तंभ के समान
	माया – मेहे के सींग के समान
	लोभ – कीचड़ के रंग के समान
प्रत्याख्यान	**क्रोध – बालू की रेखा के समान**
	मान – काष्ठ के स्तंभ के समान
	माया – चलते बैल के मूत्र की धारा के समान
	लोभ – गाड़ी के खंजन के समान
संज्वलन	**क्रोध – जल की रेखा के समान**
	मान – लता के स्तंभ के समान
	माया – छिलते हए बांस की छाल के समान
	लोभ – हलदी के रग के समान

इक्कीसवें बोल में कषाय की न्यूनाधिकता के आधार पर होने वाले उसके वर्गीकरण की चर्चा है। किन्तु जनसाधारण इतने मात्र से तत्त्व को गहराई से नहीं

समझ सकती। तत्त्वज्ञ पुरुषों का एक लक्ष्य रहा है—हर व्यक्ति को तत्त्व-बोध कराना। उन्होंने कषाय के स्वरूप को स्पष्टता से समझाने के लिए कुछ प्रतीकं को काम में लिया है। किसी प्रतीक या उदाहरण के माध्यम से कही गई बात सुबोध हो जाती है। इससे तत्त्व की गंभीरता सरलता और सरसता में परिणत हो जाती है। इस दृष्टि से बाईसवें बोल में कषाय के सोलह उदाहरण बतलाये गए हैं।

अनन्तानुबंधी कषाय के चार भेद है—क्रोध, मान, माया और लोभ। अनन्तानुबंधी क्रोध पत्थर की रेखा के समान है। सामान्यत: पत्थर में रेखा-दरार होती नहीं और हो जाने के बाद वह सहज रूप से मिटती नहीं। इसी प्रकार अनन्तानुबंधी क्रोध गहरी पकड़ के रूप में होता है। क्रोध की उत्पत्ति के निमित्त समाप्त हो जाने पर भी व्यक्ति शांत नहीं होता। उसका मन आग की भांति धधकता रहता है। उसके चारों ओर उत्तेजना का वलय निर्मित हो जाता है।

पत्थर की रेखा को मिटाने के लिए उसे छेनी से तराशने की अपेक्षा रहती है। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी क्रोध को क्षान्ति रूपी छेनी से तराशने पर ही उसका प्रभाव क्षीण हो सकता है।

अनन्तानुबंधी मान पत्थर के स्तम्भ के समान है। लकड़ी का खंभा इधर-उधर हो सकता है। पर पत्थर के खंभों को झुकाना प्रयत्न-साध्य भी नहीं है। वह टूट जाता है, पर झुकता नहीं। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी मान रखने वाला व्यक्ति किसी भी परिस्थिति के साथ समझौता नहीं कर सकता। मृदुता का विकास ही इस स्थिति का समाधान है।

अनन्तानुबंधी माया बांस की जड़ के समान है। वांस की जड़ इतनी वक्र होती है कि वहां टेढ़ेपन के अतिरिक्त कुछ होता ही नहीं। ऐसी माया व्यक्ति को धूर्तता के शिखर पर पहुंचा देती है। इसे प्रतिहत करने के लिए ऋजुता का अभ्यास आवश्यक है।

अनन्तानुबंधी लोभ कृमि-रेशम के समान है। इस का रंग दिन-दिन गहरा होता जाता है। अन्य रंग प्रयत्न करने पर उतर जाते हैं। मांजिष्ठ का रंग पक्का होता है। कृमि-रेशम उससे भी अधिक पक्के रंग वाला होता है। अनन्तानुबंधी लोभ का प्रभाव भी संतोष रूपी रंगकाट के द्वारा समाप्त हो सकता है।

अप्रत्याख्यान कषाय अनन्तानुबंधी से कुछ हलका होता है। इसकी तुलना क्रमशः भूमि की रेखा, अस्थि के स्तम्भ, मेढ़े के सींग और कीचड़ के रंग से गई है। कड़ी भूमि में पड़ी हुई दरार को सामान्यतः मिटाना कठिन है। हवा उसे भर नहीं सकती, किन्तु वर्षा के योग से भूमि में नमी का प्रवेश होता है, वह रेखा सम हो जाती है। इसी प्रकार अस्थि-स्तम्भ भी पत्थर के खंभे से कुछ लचीला होता है। विशेष प्रयत्न के द्वारा उसे इधर-उधर मोड़ा जा सकता है।

अप्रत्याख्यान माया मेंढे के सींग के समान है। मेंढ़े सींग में बांस की जड़ जितनी वक्रता नहीं होती, फिर भी वह काफी टेढ़ा रहता है। अप्रत्याख्यान लोभ कीचड़ के रंग जैसा है। वस्त्र में कीचड़ के धब्बे लग जाएं तो वे सहजता से नहीं छूटते। इसी प्रकार आत्मा पर लगे हुए अप्रत्याख्यान लोभ के धब्बे उसे कलुषित बनाए रखते हैं।

प्रत्याख्यान कषाय-चतुष्क बालू की रेखा, काठ के स्तम्भ, चलते हुए बैल के मूत्र की धारा और गाड़ी के खंजन के समान है। बालू की रेखा साधारण-सी हवा से मिट जाती है। काष्ठ-स्तम्भ को प्रयत्न से झुकाया जा सकता है। चलते हुए बैल की मूत्रधारा टेढ़ी-मेढ़ी होने पर भी उलझी हुई नहीं होती। गाड़ी का खंजन वस्त्र को विद्रूप बनाता है, फिर भी वह केरोसिन आदि तेल के प्रयोग से जल्दी ही साफ हो जाता है। इसी प्रकार प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ भी क्षमा आदि की साधना से काफी हलके हो जाते है।

संज्वलन क्रोध, मान, माया, और लोभ क्रमशः जल की रेखा के समान लता-स्तम्भ के समान, छिलते हुए बांस की छाल के समान और हलदी के रंग के समान है।

पानी की रेखा क्षणिक होती है। वह अपने अस्तित्व को टिकाकर रख ही नहीं सकती। लता-स्तभ्भ में कड़ापन नाम का कोई तत्त्व होता ही नहीं। छिलते हुए बांस की छाल टेढ़ी होती है। पर वह सरलता से सीधी हो जाती है। हलदी का रंग वस्त्र पर चढ़ता है, पर धूप दिखाते ही वह उड़ जाता है।

इसी प्रकार संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ व्यक्ति को समय और परिणाम दोनों दृष्टियों से बहुत कम प्रभावित कर पाते हैं।

२३. कषाय से होने वाले अभिघात के चार प्रकार हैं

१, अनन्तानुबन्धी – चतुष्क से सम्यक्त्व का अभिघात

२. अप्रत्याख्यान – चतुष्क से देशव्रत का अभिघात

३. प्रत्याख्यान – चतुष्क से महाव्रत का अभिघात

४. संज्वलन – चतुष्क से यथाख्यात चारित्र का अभिघात

जीव की आदि नहीं है। कषाय की भी आदि नहीं है। वह अनादिकाल से जीव के साथ जुड़ा हुआ है। जीव को संसार में परिभ्रमण कराने वाला भी वही है। जब तक कषाय का अस्तित्व रहता है, जन्म और मृत्यु की शृंखला का अन्त नहीं होता। यह निर्विवाद तथ्य है। पर प्रश्न यह है कि कषाय केवल मोक्ष का ही बाधक है या अन्य भी किसी तत्त्व का अभिघात करता है? कषाय के उदय से व्यक्ति व्यावहारिक जीवन में ही असफल रहता है या उससे आत्मगुणों का भी घात होता है?

आत्मा के दो विशेष गुण है – सम्यक्त्व और चारित्र। सम्यक्त्व का अर्थ है – सही दृष्टिकोण और चारित्र का अर्थ है – आत्मसंयम। ये दो गुण ऐसे है, जिनके दारा जीव अपने मूल स्वभाव को प्राप्त कर सकता है। जीव एक शुद्ध, बुद्ध, चित् और आनन्दमय तत्त्व है। क्रोध, मान, माया और लोभ – ये चार कशाय उसको विकृत बना देते है। आत्मा की विकृति जितनी-जितनी अधिक है, आत्मगुणों का प्रतिघात उतनी मात्रा में होता है। कषाय की मंदता और तीव्रता के आधार पर अभिघात के भी चार प्रकार हैं।

अनन्तानुबन्धी-चतुष्क से सम्यक्त्व का अभिघात होता है।

सम्यक्त्व का अभिघात होने से आत्मा, परमात्मा, धर्म, साधना आदि के सम्बन्ध में दृष्टि-विपर्यय हो जाता है। जो तत्त्व सही है, उसके बारे में धारणा गलत बन जाती है। जिस प्रकार हरा और पीला चश्मा लगाने से किसी भी रंग का पदार्थ हरा और पीला दिखाई देता है, वैसे ही सम्यक्त्व के अभाव में व्यक्ति की तत्त्व-श्रद्धा विपरीत हो जाती है।

अप्रत्याख्यान-चतुष्क से देशव्रत का अभिघात होता है।

देशव्रत का अभिघात होने से व्यक्ति गलत तत्त्व को गलत समझने पर भी उसे

छोड़ने के लिए संकल्पबद्ध नहीं हो सकता। उसकी ज्ञ-परिज्ञा विकसित रहती है, किन्तु प्रत्याख्यान-परिज्ञा जाग नहीं पाती।

प्रत्याख्यान-चतुष्क से महाव्रत का अभिघात होता है।

महाव्रत का अभिघात होने से व्यक्ति अपने संकल्प को पूर्णता के बिन्दु तक नहीं ले जा सकता है। उसकी व्रत-चेतना खण्डशः विकसित होती है। इसलिए वह आंशिक रूप से व्रत स्वीकार करता है, पर महाव्रत की साधना नहीं कर सकता।

संज्वलन-चतुष्क से यथाख्यात चारित्र का अभिघात होता है।

यथाख्यात चास्ति का अभिघात होने से व्यक्ति वीतराग नहीं बन सकता। वीतरागता हर अध्यात्मनिष्ठ व्यक्ति का लक्ष्य होता है। पर वह तब तक उपलब्ध नहीं हो सकता, जब तक संज्वलन कषाय का उदय रहता है।

ये चारों ही अभिघात आत्मगुणों के विकास में बाधक है। अतः विशेष पुरुषार्थ के द्वारा कषाय-चतुष्टयी को क्षीण करने का प्रयत्न होना बहुत आवश्यक है।

२४. नोषाय के नौ प्रकार हैं

१, हास्य **६. जुगुप्सा**
२. रति **७. स्त्रीवेद**
३. अरति **८. पुरुषवेद**
४. भय **९. नपुंसकवेद**
५. शोक

कषाय के सोलह भेद और उनके उदाहरणों को समझने के बाद नोकषाय को समझना भी जरूरी है। सामान्यतः नौ शब्द निशेध का वाचक होता है। किन्तु यहां यह सादृश्य का वाचक है। नोकषाय कषाय को उत्तेजना देने वाला है, इसलिए वह कषाय का ही प्रतिरूप है। वह कुछ हल्का है, अतः उसके लिए दूसरे शब्द का प्रयोग किया है।

हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद- ये नोकषाय के नौ प्रकार हैं। इनमें पहला प्रकार है हास्य। हास्य दो प्रकार का होता

है – स्मित और अट्टहास। स्मित से कषाय को सहारा नहीं मिलता, इसलिए वह हेय नहीं है। अट्टहास आगे चलकर कषाय में परिणत हो जाता है। कौरव और पांडवों के बीच हुआ महाभारत हास्य की ही तो परिणति थी। यदि द्रौपदी कौरवों का उपहास नहीं करती तो संभव है महाभारत नहीं होता।

रति और अरति ये दोनों विरोधी शब्द है। असंयम में अनुराग और संयम के प्रति उदासीनता इसकी निष्पत्ति है। इससे चेतना की ऊर्जा का प्रवाह विपरीत दिशा में बहने लगता है। विपरीतगामी प्रवाह व्यक्ति को अशक्त बना देता है। इससे चैतसिक निर्मलता मलिनता में बदल जाती है।

भय, शोक और जुगुप्सा भी कषाय की उत्पत्ति के हेतु हैं। जिसके कारण भय उत्पन होता है, उसके प्रति द्वेष होना अस्वाभाविक नहीं है। इसी प्रकार प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग से व्यक्ति शोकविह्वल बन जाता है। ऐसी परिस्थितियों में ही जुगुप्सा का बीजवपन होता है। ये तीनों तत्त्व आत्महित में बाधक है, इसलिए इन्हें भी समाप्त करने का प्रयत्न होना जरूरी है।

स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद भी नोकषाय के प्रकार हैं। स्त्री की पुरुषाभिलाशा, पुरुष की स्त्री सम्बन्धी अभिलाषा और नपुंसक की उभयमुखी अभिलाषा वेद कहलाती है। ये मोह कर्म की प्रकृतियां हैं। इनके मूल में राग-द्वेश मूलक वृत्तियों का प्रभाव है। इनके साथ में जब तक अशुभ योग जुड़े रहते है, वेद व्यक्त विकार के स्प में परिणत हो जाते हैं। सातवें गुणस्थान में अशुभयोग नहीं है, इस दृष्टि से वहां व्यक्त विकार भी नहीं है। वेद का अस्तित्व नौवें गुणस्थान तक है। कषाय की भांति नोकषाय भी वीतरागता की स्थिति में बाधक है। इसलिए विशेष साधना के द्वारा नोकषाय को क्षीण कर आत्मस्वरूप को प्राप्त किया जा सकता है।

२५. चारित्र के पांच प्रकार हैं

१. सामायिक चारित्र
२. छेदोपस्थाप्य चारित्र
३. परिहारविशुद्धि चारित्र
४. सूक्ष्मसम्पराय चारित्र
५. यथाख्यात चारित्र

दर्शन मोहनीय कर्म के विलय से सम्यक्त्व उपलब्ध होता है और चारित्र मोहनीय के विलय से चारित्र प्राप्त होता है। मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियां है। इनमें अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क और सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय तथा मिथ्यात्व मोहनीय का सम्बन्ध सम्यक्त्व से है। चारित्र का सम्बन्ध है सोलह कषाय और नौ नोकषाय से कषाय और नोकषाय का जितना-जितना क्षयोपशम, उपशम और क्षय होता है, चारित्र की उज्ज्वलता उतनी-उतनी बढ़ जाती है।

इस वर्ग के पचीसवें बोल में चारित्र के पांच प्रकार बतलाए गए हैं।

सामायिक चारित्र – 'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' – इस वाक्य का उच्चारण करते हुए संक्षेप में सपाप प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान करना।

छेदोपस्थाप्य चारित्र – विस्तार से विभागपूर्वक पांच महाव्रतों को स्वीकार करना। अथवा पूर्व पर्याय की छेद कर दूसरी पर्याय में उपस्थापन करना।

परिहारविशुद्धि चारित्र – एक निश्चित अवधि तक विशिष्ट तपस्या पूर्वक चारित्र की आराधना करना।

सूक्ष्मसम्पराय चारित्र – दसवें गुणस्थान का चारित्र। इस चारित्र में कषाय (लोभ) का सुक्ष्म अंष मात्र अवशेष रहता है।

यथाख्यात चारित्र – वीतराग का चारित्र। मोहकर्म का उपशम या क्षय होने से यह चारित्र उपलब्ध होता है।

सामायिक और छेदोपस्थाप्य चारित्र छठे से नौवें गुणस्थान तक होते हैं। परिहारविशुद्धि चारित्र छठे और सातवें गुणस्थान में होता है। सूक्ष्मसम्पराय चारित्र की प्राप्ति दसवें गुणस्थान में होती है। यथाख्यात चारित्र ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

प्रथम चार चारित्र क्षायोपशमिक भाव है। क्षयोपशम की तरतमता के आधार पर उनके अनेक भेद हो सकते है। क्योंकि सब जीवों का क्षयोपशम एक समान नहीं होता। यथाख्यात चारित्र मोह कर्म के उपशम या क्षय सापेक्ष है। उसमें कोई तारतम्य नहीं होता। इसलिए यथाख्यात चारित्र वालों की चारित्रिक उज्ज्वलता एक समान होती है।

परिशिष्ट

प्रथम वर्ग

१- १. राशि के कितने प्रकार हैं?
   २. राशि का अर्थ क्या है?
   ३. संक्षेपनय और विस्तारनय इन शब्दों को सरल भाषा में समझाओ।

२- १. सिद्ध व संसारी किसे कहते हैं?
   २. विदेह, संदेह, अकर्म, सकर्म, अक्रिय, सक्रिय—इन शब्दों के अर्थ स्पष्ट करो।

३- १. व्यवहारराशि और अव्यवहारराशि में क्या अन्तर है?
   २. पर्याप्त और अपर्याप्त में क्या अन्तर है?
   ३. प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर में क्या अन्तर है?
   ४. भव्य और अभव्य में क्या अन्तर है?

४- १. जीव के तीन-तीन प्रकार कौन-कौन से हैं?
   २. संज्ञी व असंज्ञी से तुम क्या समझते हो?
   ३. नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी किसे कहते हैं?

५- १. जीवों के चार प्रकार कौन-से हैं?
   २. चार गति में मनुष्य की गति कौन-सी है?
   ३. तिर्यंचगति में कौन-कौन से जीव आते हैं?

६- १. जीवों के पांच प्रकारों के नाम बताओ?
   २. तीन इन्द्रिय वाले जीवों में कौन-सी इन्द्रियां हैं नाम बताओ?
   ३. चतुरिन्द्रिय जीवों के नाम बताओ?

७- १. जीव के छः प्रकारों के नाम बताओ?
   २. काय शब्द का अर्थ क्या है?
   ३. त्रसकाय किसे कहते है और उसमें कौन से जीव आते हैं?

८- १. दण्डक शब्द का क्या अर्थ है?
   २. भवनपति देवों के आवास किस स्थान में है?
   ३. ज्योतिष्क देवों के कितने प्रकार हैं?

९- १. शरीर के पांच प्रकारों के नाम बताओ?
२. वैक्रिय शरीर किसे कहते हैं?
३. तैजस और कार्मण शरीर का क्या अर्थ है?

१०- १. इन्द्रियों के पांच प्रकारों के नाम बताओ?
२. द्रव्येन्द्रिय के दो भेद कौन से हैं?
३. भावइन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय को स्पष्ट करो?

११- १. छः पर्याप्तियों के नाम बताओ?
२. सबसे पहले कौन-सी पर्याप्ति का बन्ध होता है?
३. आहार पर्याप्ति की पूर्णता में कितना समय लगता है?

१२- १. प्राण के दस प्रकारों के नाम बताओ?
२. प्राण शब्द का अर्थ क्या है?
३. एक इन्द्रिय में कितने प्राण होते हैं?

१३- १. योग के कितने प्रकार है, उनके नाम बताओ?
२. वचन योग के कितने प्रकार है, उनके नाम बताओ?
३. काय योग किसे कहते हैं?

१४- १. उपयोग के दो प्रकार कौन-से हैं?
२. ज्ञान के पांच प्रकारो के नाम बताओ?
३. अनाकार उपयोग के चार प्रकार कौन-से हैं?
४. मतिज्ञान व अवधिज्ञान किसे कहते हैं, स्पष्ट करो?
५, अचक्षुदर्शन किसे कहते हैं स्पष्ट करो?

१५- १. आत्मा के आठ प्रकारों के नाम बताओ?
२. द्रव्य आत्मा और कषाय आत्मा में क्या भेद है?
३. आत्मा तो एक है फिर आठ भेद करने का क्या कारण है?

१६- १. गुणस्थानों के नाम बताओ।
२. पांचवां गुणस्थान कौन-सा है?
३. देशविरति गुणस्थान किसे कहते हैं?
४. कौन-से गुणस्थान में केवलज्ञान उत्पन्न होता है?

१७- १. भाव के पांच प्रकार कौन-से नाम बताओ?
२. औदयिकभाव किसे कहते हैं?
३. क्षायोपशमिक भाव किसे कहते हैं?

१८- १. लेश्या के कितने प्रकार हैं, उनके नाम बताओ?
२. कौन-सी लेश्या का कौनसा रंग है, स्पष्ट करो?
३. दृष्टान्त के द्वारा लेश्याओं के स्वरूप को स्पष्ट करो?

१९- १. मिथ्यात्व के पांच प्रकारों के नाम बताओ?
२. अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व किसे कहते हैं?
३. सांशयिक मिथ्यात्व को अपनी भाषा में समझाओ?

२०- १. मिथ्यात्व के दस प्रकार कौन-से हैं, नामोल्लेख करो?
२. मार्ग-अमार्ग से तुम क्या समझते हो?
३. यहां संज्ञा शब्द का क्या अर्थ है?

२१- १. कषाय के सोलह प्रकार के नाम बताओ?
२. अनन्तानुबन्धी कषाय किसे कहते हैं?
३. क्या कषायों के रहते व्यक्ति वीतराग बन सकता है?

२२- १. अनन्तानुबन्धी चारों कषायों को किस उपमा से बताया गया है? उदाहरणपूर्वक स्पष्ट करो?
२. जल की रेखा के समान कौन-सा कषाय है?
३. काष्ठ के स्तंभ के समान कौन-सा कषाय है?

२३- १. सम्यक्त्व का अभिघात कौन-से कषाय से होता है?
२. संज्वलन कषाय से किस वस्तु का अभिघात होता है?
३. अभिघात शब्द का अर्थ क्या हैं?

२४- १. नो-कषायों के नाम बताओ?
२. रति-अरति का शब्दार्थ क्या है?
३. वेद किसे कहा जाता है?

२५- १. चारित्र के प्रकारों के नाम बताओ?
२. सामायिक चारित्र किसे कहते हैं?
३. सूक्ष्म सम्पराय चारित्रं कौन से गुणस्थान में होता है?